हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ७३ वाँ ग्रन्थ

प्रपञ्च-परिचय

अर्थात्

संसारका दार्शनिक विश्लेषण

लेखक

प्रो० श्री विश्वेश्वर, सिद्धान्त-शिरोमणि

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

श्रावण, १९८७

अगस्त, १९३०

प्रथम संस्करण] सजिल्दका २) [मू० १।)

समर्पण

भैया ! *

तुम्हारे प्रेममय आग्रह और अमूल्य सहायताके परिणामरूप यह पुस्तक तैयार है, तुम्हारी चीज़ है, इसे और किसके अर्पण करूँ ?

' त्वदीयं वस्तु हे भ्रातः ! तुभ्यमेव समर्पये '

दूरकी जिन मङ्गल-कामनाओंसे प्रेरित होकर तुमने इतना आग्रह कर इतनी जल्दी इस पुस्तकको तैयार करा डाला, मङ्गलमय भगवान् तुम्हारी उन मनोकामनाओंको पूर्ण करें, यही अन्तस्तलकी अभिलाषा है ।

अपनी उन शुभ आकांक्षाओंका प्रतिफल नहीं, बल्कि बन्धुवात्सल्यका अकिञ्चन उपहार समझ कर इस तुच्छ भेटको स्वीकार करना ।

तुम्हारा—

विश्वेश

---

* कुलबन्धुओ !

दो शब्द

(१)

पिछले दिनों दर्शनशास्त्रके साथ अपना विशेष सम्पर्क रहनेक कारण उस विषयकी कुछ विशेष बातोंकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और भारतीय दर्शन-शास्त्रके कुछ विवादग्रस्त प्रश्नोंपर आलोचनात्मक शैलीसे कुछ लिखनेकी भावना हृदयमें जाग्रत हुई। यह गत जनवरी १९३० की वात है। उस समय गुरुकुलका रजत-जयन्ती-महोत्सवका कठिन कार्यभार इन्हीं दुर्वल कन्धोंपर वहुत अंशमें रखा हुआ था, जो कि अप्रैल मासमें मनाया जाना था। यों ही समय मिलना मुश्किल था, और उसपर इधर विद्यार्थियोंकी परीक्षा भी आ रही थी, डवल परिश्रम था। उन दिनों तो यह भी पता न चलता था कि, कव—

'सुवह होती है, और फिर कव शाम होती है'

प्रात:से सायंतकका सारा समय इन्हीं कामोंमें व्यतीत हो जाता था। फिर भी संकल्प था कि कुछ लिखना ही चाहिए, इसलिए रातको सोते समय जैसे तैसे कुछ समय निकालकर इस क्रतुको—संकल्पको—पूरा करनेका प्रयास करता था। पुस्तकका प्रारम्भिक कुछ भाग उसी समयका लिखा हुआ है। उन्हीं दिनों 'महात्मा ईसा'के प्रकाशनके सम्बन्धमें 'चाँद कार्यालय'से पत्रव्यवहार हो रहा था, उसे जयन्तीसे पहले प्रकाशित करनेकी मेरी वड़ी प्रवल अभिलाषा थी, और अभी उसका लगभग एक तिहाई भाग लिखना भी शेष था। मैंने इसे वन्द करके उस समयको 'महात्मा ईसा' की पूर्तिमें ही देना उपयुक्त समझा और ज्यों त्यों करके उसकी समाप्ति हुई। परन्तु सारा यत्न करके भी वह अभीष्ट अवसरपर प्रकाशित न हो सकी, यद्यपि उसका छपना मार्चमें प्रारम्भ हो गया था।

जयन्ती आई और चली गई। उसके वाद मई और जून मास गुरुकुलके ग्रीष्मा-वकाशके दिन थे। लोगोंने इधर उधर जानेकी ठानी, कुछ पहाड़ गये, कुछ घर और कुछ परिभ्रमण-मण्डलियोंमें सम्मिलित हो गये; परन्तु अपने रामको तो इस पुस्तकको पूरा कर अगस्ततक छपानेकी धुन थी, वाहर जानेका सवाल ही न था। छुट्टियोंके प्रारम्भ होते ही इसके भी भाग्य चेते।

पुस्तकका प्रारम्भ होते समय उसका जो साँचा सोचा गया था वह कुछ और ही था, आजका उसका रूप उससे वहुत भिन्न है। यह परिवर्तन पुस्तकका प्रार-म्भिक अंश समाप्त होते होते ही ध्यानमें आ चुका था। इसलिए पूर्वनिर्धारित विचा-

रोंको छोड़कर इस नवीन रूपमें ही इस पुस्तककी रचना हुई, पहले सोचे विषयोंपर फिर किसी समय अधिक व्यवस्थित और अधिक सचिन्त होकर लिखनेका विचार करूँगा।

मई मासमें जब इस कार्यका आरम्भ हुआ, तो सबसे पहले पूर्वलिखित भागको टाइप कर तीन प्रतियाँ तय्यार की गईं और उनके सहारे प्रकाशकोंसे पत्रव्यवहार आरम्भ हुआ। एक बार अनुभव कर चुका था, इसलिए इस बार मेरी सबसे पहली शर्त समयपर पुस्तक मिल जानेकी थी। मुझे स्वयं आशा न थी कि कोई प्रकाशक इतनी जल्दी समयपर पुस्तक देनेका वादा कर सकेगा; परन्तु फिर भी यत्न करना अपना काम है, यही सोचकर कुछ लिखता लिखाता ही रहा। किसीने निराशाजनक उत्तर दिया, किसीने समयकी पाबन्दी न कर सकनेकी बात कही, किसीने कुछ लिखा और किसीने कुछ। मेरी मनस्तुष्टि तो कहीं भी न हो सकी, इसलिए उन सबसे आशा छोड़कर मैंने 'प्रेमीजी' को अपने मनोभाव विशदरूपमें लिखे। प्रेमीजीका उत्तर आशाजनक था।

सब बातें तय हो गईं, समयपर पुस्तक देनेकी बात भी पक्की हो गई, ८ जुलाईको पुस्तक प्रेसमें दे दी गई। आरम्भमें दो एक फ़ार्मके प्रूफ़ मेरे पास भेजनेका यत्न उन्होंने किया; परन्तु यहाँसे डाँकमें आने जानेमें ही ५–६ दिन लग जाते, उधर प्रेसवाला भी इसके लिए तैय्यार न था, इसलिए विवश होकर प्रूफ़ देखनेकी व्यवस्था उन्हें स्वयं करनी पड़ी। प्रेमीजीने जिस योग्यता और तत्परतासे इस कार्यको किया, वह सराहनाके योग्य है। इतना प्रयत्न करने पर भी अनेक स्थलोंपर भद्दी अशुद्धियाँ रह गई हैं, इसका दोष प्रेमीजीपर नहीं बल्कि मेरे ऊपर है। असली कापीकी अस्पष्टताने सचमुच प्रेमीजीको बड़ी दिक्कतमें फँसा दिया। प्रेमीजीने जो कुछ किया आशासे अधिक किया, उसपर आदिसे अन्ततक उनके सच्चे और सौम्य व्यवहारने मुझे और भी मुग्ध कर लिया। मैं प्रेमीजीका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

(२)

लेखकका उत्तरदायित्व और कर्तव्य वैसे भी अधिक होता है, फिर मैंने अपने लिए जो विषय चुना था उसने तो मेरे उत्तरदायित्वको कई गुना अधिक बढ़ा दिया। मैं उसका भली भाँति अनुभव करते हुए भी कहाँ तक निभा सका हूँ, इसका निर्णय पाठक और समालोचक ही करेंगे। अपनी ओरसे तो मैं केवल यही कह सकता हूँ कि मैंने उसके लिए भरसक यत्न किया है।

हिन्दी संसारमें इस प्रकारकी पुस्तकोंके प्रेमियोंकी संख्या बहुत गिनी-चुनी है, वह भी तब जब कि पुस्तककी शैली बहुत सरल हो । यदि उसमें जटिलता आ गई, तो धोखेसे मोल ले लेनेपर भी पुस्तक केवल आलमारीकी श्रीवृद्धि करनेके उपयोगमें ही आती है । इसलिए पुस्तकके विषयको सरल और प्रतिपादन-शैलीको अधिक सुबोध एवं मनोरंजक बनानेका यत्न करना लेखक—विशेषतः ऐसे विषयके लेखक—का प्रधान कर्तव्य है । प्रस्तुत पुस्तकके पहले रूपको परिवर्तित करनेका यह भी एक प्रधान कारण था । इसी भावनासे प्रेरित होकर इस पुस्तकको मैंने वर्णनात्मक रूपमें नहीं; किन्तु आलोचनात्मक रूपमें लिखा है । ऐसा करनेसे विषयकी जटिलता और शुष्कता अपेक्षाकृत कुछ कम हो गई है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु मेरा उत्तरदायित्व उस अनुपातसे कई गुना अधिक हो गया है, यह भी उतना ही निश्चित है । इस पुस्तकमें जिन महापुरुषोंके विचारोंकी आलोचना हुई है, संभव है कि मैं उनमेंसे किसीके साथ अन्याय कर बैठा हूँ; परन्तु मुझे इतना सन्तोष है कि पुस्तक लिखनेमें आदिसे अन्त तक सद्भावनाको स्थिर रख सका हूँ ।

पुस्तकके नामसे उसके विषयका बहुत कुछ आभास मिल सकता है । उसका उद्देश्य दार्शनिक दृष्टिकोणसे प्रपंच—संसार—का परिचय कराना है । विषय-प्रतिपादनकी सुगमताको ध्यानमें रखते हुए हमने इसे तीन भागोंमें विभक्त कर लिया है । पहले भागमें प्रपंचके अचेतन भाग प्रकृतिका, दूसरेमें चेतन—आत्मतत्त्व—का और तीसरेमें प्रपंचप्रसारक—परमात्मा—का निरूपण हुआ है । इन तीनों खण्डोंके शीर्षक क्रमशः "यह" "स" और "वह" रखे गये हैं । इस प्रकार साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पुस्तकके भीतर त्रित्ववादका विवेचन हुआ है । 'त्रित्ववाद' से हमारा आशय ईश्वर, जीव और प्रकृतिकी सत्तासम्बन्धी विचारोंसे है । जैसा कि प्रथम परिच्छेदके अन्तमें हमने लिखा है कि त्रित्ववादका विषय इतना विस्तृत है कि उसके भीतर ही वस्तुतः समस्त संसारकी समालोचना समाप्त हो जाती है । इस दृष्टिसे इनमें एक एक खण्डके भीतर अमित सामान विवेचनाके लिए था । परन्तु हम उतनी गहराईमें नहीं गये हैं । कई स्थलोंपर प्रकाश डालनेकी विशेष इच्छा रहते हुए भी हमने उसे छोड़ दिया है, क्योंकि ऐसा करनेसे विषय तो शायद और जटिल हो ही जाता, साथ ही पुस्तकका कलेवर भी इससे लगभग तिगुना हो जाता । इस आत्मसंयमके कारण स्थल स्थलपर विशेषज्ञोंको पुस्तक अपूर्णसी प्रतीत होगी, परन्तु इस समय उतनी गहराईमें जाना न तो हमारे लिए सम्भव ही था और

न हमारा उद्देश्य ही था। हमने तो केवल 'प्रपंच' का परिचय मात्र करानेका प्रयास किया है। पुस्तकमें कई स्थलोंपर धार्मिक आलोचनाके विषय आ पड़े हैं; परन्तु हमने जान बूझकर उन्हें बचा देना ही उचित समझा है। फिर भी दो एक स्थलोंपर हमें उन्हें छोड़कर निकल सकनेका मार्ग ही प्रतीत न हुआ, इसलिए विवश होकर उनपर कुछ लिखना पड़ा है। परन्तु इससे किसीके धार्मिक विश्वासोंको आघात पहुँचाना या किसीका दिल दुखाना हमारा उद्देश नहीं है। यदि हमारे उन शब्दोंसे किसीके हृदयको तनिक भी ठेस पहुँची, या किसीको जरा भी मनःक्षोभ हुआ, तो हम इसे अपना दुर्भाग्य ही समझेंगे।

एक बात और है। पुस्तकमें जो विचार अंकित हुए हैं उनपर मैंने भली भाँति मनन किया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वही सत्य—आन्तिम सत्य —है। मैं एक साधारण मनुष्य हूँ। मनुष्यसे भूल हो सकती है। फिर जिन महा-पुरुषोंके विचारोंके आधारपर इस पुस्तकमें कुछ लिखा गया है, वह प्रथम श्रेणीके विद्वांन् या आदरणीय महापुरुषोंमेंसे हैं। संभव है कि मैंने उनके हार्दिक भावोंको समझनेमें भूल की हो। ऐसी भूलोंका सुधार करना ही समालोचक न्धुओंका कर्तव्य है। मैं बड़ा कृतज्ञ हूँगा, यदि कोई सहयोगी वन्धु किसी ऐसी भूलकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करेंगे। परन्तु इन समालोचक वन्धुओंसे एक बात विशेष रूपसे निवेदन कर देना चाहता हूँ—वह यह कि इस प्रकारकी छोटी छोटी बातोंको लेकर अखबारी दुनियामें 'तू तू–मैं मैं' करना शिष्टाचारके विरुद्ध और लेखक एवं समालोचकके गौरवके प्रतिकूल है। इसलिए साहित्यिक क्षेत्रमें खम ठोककर भूल-सुधार करानेकी अपेक्षा यदि वह निजी रूपसे पत्रद्वारा मुझे उसकी सूचना देंगे, तो मैं उनका चिरकृतज्ञ हूँगा और उनके परामर्शसे लाभ उठानेका पूरा प्रयत्न करूँगा।

अन्तमें—जिन आदरणीय महापुरुषोंके लेखों और विचारोंसे अपने विचार-निर्माण और प्रस्तुत पुस्तकके लिखनेमें मुझे सहायता मिली है, उनके प्रति अमित श्रद्धाका अनुभव मैं कर रहा हूँ और हृदयकी गहरी तहसे निकले हुए शब्दोंमें कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

विश्वविद्यालय, गुरुकुल–वृन्दावन
श्रावणी १९८७
९ जुलाई १९३०

—विश्वेश्वर

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

यह ?

द्वितीय खण्ड

मैं ?

तृतीय खण्ड

वह ?

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर

प्रथम खण्ड

यह ?

हमारे चारों ओर दिखाई देनेवाला यह जड़-जगत् क्या है? इसी सम्बन्धमें प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकोंके विचारोंका संग्रह इस खण्डमें किया गया है। इसी विषयका प्रतिपादन करते समय जगत्के मूल कारण प्रकृतिके स्वरूप और फिर उससे होनेवाली विकृतिके क्रमका दिग्दर्शन कराना भी आवश्यक था, इस लिए इन विषयोंपर भी आलोचनात्मक दृष्टिसे प्रकाश डालनेका यत्न किया गया है।

इस पुस्तकका उद्देश दार्शनिक दृष्टिकोणसे प्रपंच–संसारका–परिचय कराना है, इसलिए प्रारम्भमें एक परिच्छेद सामान्य रूपसे दर्शनशास्त्रके विषयमें दिया है जिसमें दर्शनकी परिभाषायें, उसका क्षेत्र और समाजपर उसके प्रभाव आदिका निरूपण किया गया है।

प्रपञ्च-परिचय

प्रथम परिच्छेद

Philosophy, thou director of our lives,
Thou friend of virtue and enemy to vice,
What were we, what were life;
Of man at all, but for thee!

दार्शनिक प्रक्रिया क्रमिक मनोविकासका प्राकृतिक परिणाम है। जिस प्रकार कविताकी जननी भावना या भावुकता है, उसी प्रकार दर्शनकी प्रसविनी प्रतिभा है। कविता हृदयकी सम्पत्ति है तो दर्शन मस्तिष्ककी उपज है। दोनोंका विकास समान रूपसे होता है। जिस प्रकार सहृदय कविका भावनापूर्ण हृदय, जीवनकी उत्थान और पतनकी घटनाको देखकर उससे अलग नहीं रह सकता, तन्मय—तदाकार हो जाता है, सुख या दुःखकी उसी प्रबलधारामें बह जाता है, और जिस प्रकार भावुकताका आधार कविका हृदय प्रकृति देवीके सौम्य एवं सुन्दर स्वरूपमें प्रतिक्षण होने-वाले परिवर्तनोंको देखकर चहक उठता है, उसी प्रकार दार्शनिक

मस्तिष्क भी जीवन और प्राकृतिक परिवर्तनोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देख सकता। वह स्वाभाविक रूपसे यत्न करता है उन गुत्थियोंको सुलझानेका जो इस प्रकारके प्राकृतिक परिवर्तन या जीवनके सम-विषम-दशा-परिणाम उसके सामने पैदा कर देते हैं। इन समस्याओंके हल करनेके इस प्रयासका नाम ही दर्शन है।

वह समस्यायें जिन्हें बड़े बड़े दार्शनिक मस्तिष्कोंने हल करनेका यत्न किया है बड़ी स्वाभाविक हैं, सरल हैं, और हैं नितान्त शान्ततम मस्तिष्कमें भी उथल-पुथल मचा देनेवालीं। संक्षेपमें, मैं क्या हूँ? यह दृश्यमान् जगत् क्या है? हम दोनों कहाँसे आये और कहाँ जा रहे हैं? यही दर्शनशास्त्रके जीवनस्वरूप वह आदिम प्रश्न हैं, जो उस सुदूरवर्ती, हाँ उस अनादि कालसे होनेवाले सरलतम मस्तिष्कोंमें भी आलोचनाके लिए स्थान पा चुके हैं और बड़े बड़े दार्शनिक मस्तिष्कोंमें भी। इसलिए—

"The question is not one of Philosophy or no Philosophy, but one of good Philosophy or bad. Every rational being has a Philosophy of some kind."

—Problems of Metaphysics Pp. 2.

'प्रश्न फ़िलासफ़ीकी सत्ता या उसके अभावका नहीं बल्कि उसके हेय और उपादेय स्वरूपका है। संसारका प्रत्येक विचारशील व्यक्ति किसी न किसी प्रकारकी फ़िलासफ़ीसे युक्त अवश्य होता है।' अर्थात् इस विश्वभरमें कोई भी विचारशील व्यक्ति इस दार्शनिक विमर्शसे एकदम् पृथक् नहीं रह सकता। दर्शनशास्त्रके आधारस्वरूप, मैं क्या हूँ? यह दृश्यमान् जगत् क्या है? आदि आदिम प्रश्न अबाधित रूपसे प्रत्येक विवेकी मस्तिष्कमें उठे हैं और वह मस्तिष्क स्वतः उनका

हल खोजनेका यत्न करता है, इसलिए यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि कोई भी प्रतिभाशाली मस्तिष्क दार्शनिक विमर्श से वंचित नहीं रह सकता। अथवा—

"Constituted as it is, human mind must philosophise."

—General Philosophy Pp. 14.

'मानवी मस्तिष्कका स्वाभाविक निर्माण ही उसे दार्शनिक विमर्शके लिए बाधित करता है।' डाक्टर पालसनने इसी भावको कुछ विशदतर रूपमें व्यक्त किया है। उनके अपने शब्द हैं—

"Every nation and every man, at least every normally developed man, has a philosophy. The plain man of the people, too has a philosophy. He gives an answer to the questions regarding the origin and destiny of the world and man. In this sense people living in a state of nature have their philosophy also."

Introduction to Philosophy. Pp. 3.

'संसारके प्रत्येक जाति और व्यक्ति, या कमसे कम मध्यम श्रेणीके समुन्नत व्यक्तियोंकी अपनी फ़िलासफ़ी अवश्य होती है। यहाँतक कि समाजके साधारणतम व्यक्तिकी भी फ़िलासफ़ी है। वह भी मैं क्या हूँ? और प्रकृति क्या है? हम दोनों कहाँसे आये और कहाँ जाँयगे? आदि प्रश्नोंको हल करनेका यत्न करता है। फलतः संसारमें रहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी अपनी फ़िलासफ़ी भी अवश्य होती है।'

उपर्युक्त उद्धरणोंको देखकर यह परिणाम बड़ी स्पष्टताके साथ निकाला जा सकता है कि दर्शनका विषय या दार्शनिक प्रवृत्ति बड़ी

सरल और स्वाभाविक वस्तु हैं, संसारका प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ मात्रामें उससे युक्त अवश्य होता है; परन्तु दर्शनशास्त्रमें इतनी सरलता और स्वाभाविकताके रहते हुए भी दार्शनिक,—सच्चे दार्शनिकका पद पा सकना बड़ा दुष्कर है, दुर्लभ है, पुण्यैकलभ्य है। सम्भवतः इन पंक्तियोंके देखनेवालेको आपाततः उनमें कुछ विरोध दिखाई दे, मगर वह विरोध प्रामाणिक है, उसका परिहार किया ही नहीं जा सकता। लोकमें मसल मशहूर है कि रोना और गाना किसे नहीं आता? परन्तु संसारमें कितने हैं जो वस्तुतः रोना जानते हों? हाँ, कितने हैं जिन्हें गाना आता है? रोनेमें एक दर्द होता है और उस दर्दमें एक आनन्द होता है। दर्द दिलका यही सुख, यही आनन्द करुण रसमें पहुँचकर 'ब्रह्मानन्द-सहोदरः' बन जाता है। गानेमें भी एक लोच होता है, एक चुलबुलाहट होती है। यही लोच यही चुलबुलाहट उस गानेकी जान है। रोनेका वह दर्द और गानेका वह लोच ही तो है जो सुननेवालेके दिलको मसोस डालते हैं, विवश कर देते हैं, काबूसे बाहर कर देते हैं। हाँ, संसारके उन तमाम रोने और गानेवालोंमेंसे कितने हैं, जिनके रोने या गानेमें वह दर्द, वह चुलबुलाहट पाई जाती हो? विरले, बहुत विरले। कवियोंके जगत्‌में भी तो बरसाती, हाँ तुकबन्दी करनेवाले कवि, हजारों-लाखोंकी संख्यामें पाये जाते हैं, गलियों मारे मारे फिरते हैं, परन्तु फिर भी विष्णुपुराणके अनुसार कवित्व मानव-जीवनका सार और उसकी अत्यन्त विकसित अवस्था है—

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

नरत्व,—मनुष्यजीवन, विद्या और कविता सब एक दूसरेसे अधिक दुर्लभ हैं; परन्तु उन सबसे अधिक दुर्लभ है कविताकी शक्ति, भावनापूर्ण सरस हृदय, चोज़ भरे भाव और चुभता हुआ पद-विन्यास। यह सब चीजें लौकिक नहीं अलौकिक हैं और हैं 'शब्द मूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः' विष्णु, साक्षात् भगवान्के अंश हैं। उनका प्राप्त कर सकना सरल नहीं तपःसाध्य है, तभी तो

एक लहैं तप-पुंजनके फ़ल,
ज्यों तुलसी और सूर गुसाइँ।

इन्हीं तपःपुंजनके फलसे तो

कविता-कर्ता तीन हैं, तुलसी केशव सूर।
कविता-खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर।

ठीक यही बात, यही नियम ज्योंका त्यों दार्शनिक क्षेत्रमें भी लागू हो सकता है। वहाँ भी 'सीला बिनत मजूर' तो सैकड़ों क्यों हजारों और लाखों हो सकते हैं; परन्तु दर्शन-खेतीके लवन कर सकनेवाले सच्चे दार्शनिक गिने चुने ही हो सकते हैं। दार्शनिक प्रवृत्तिकी सरलता और स्वाभाविकताके रहते हुए भी उसके लिए आवश्यक पारदर्शिनी प्रतिभा, लम्बी पहुँच और पहुँची हुई सूझ हर जगह नहीं होती। उस प्रतिभा, उस सूझ, उस पहुँचके भीतर ही तो दर्शनशास्त्रका सारा रहस्य अन्तर्निहित है। जिनकी नज़र इतनी मँजी हुई है कि ज़मीनके ज़र्रेमें भी घुस सकती है, जिनकी प्रतिभा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम परमाणुको भी पार कर सकनेमें सधी हुई है और जिनकी सूझ-समझ दैवी विधानोंकी विकट उलझनोंको सुलझानेमें भी नहीं झिझकती, वही दार्शनिक क्षेत्रमें कदम रखनेके अधिकारी हैं। जो एक साथ आकाशमें उड़ और भूतलमें रेंग सकते हैं उनहीको

अधिकार है दर्शनशास्त्रका दरवाज़ा खटखटानेका। उन्हींके लिए महात्मा ईसाने कहा है—

'खटखटाओ तुम्हारे लिए खोला जायगा'

यही अलौकिक प्रतिभा भी तो दावा कर सकती है—

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा,
पथि यदि विपथे वा वर्तयामः स पन्था।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा,
न हि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः।

दर्शनकी परिभाषा

आज फ़िलासफ़ी, दर्शनशास्त्रने नितान्त शान्ततम मस्तिष्कमें उठनेवाली समस्याओं, पहेलियोंको जितना दुरवगाह बना दिया है, उससे भी कहीं अधिक उलझा हुआ शायद उसका अपना स्वरूप है। दर्शनशास्त्रकी अपनी परिभाषा भी आज स्वयं एक दार्शनिक पहेली बन बैठी है। प्राचीनतम कालसे अपने अपने समयके प्रसिद्ध दार्शनिकोंने अपने अपने विचारके अनुसार उसकी परिभाषा बनानेका यत्न किया है; परन्तु योगके परिणामवादके अनुसार आजकी परिभाषा कल एकदम पुरानी पड़ जाती है, उसमें न उतना ज़ोर ही रह जाता है और न उतनी व्यापकता। आजकी बनी परिभाषा कल सिकुड़ जाती है, अव्यापक बन जाती है। उदाहरणके लिए, काण्ट अपने समयका प्रमुख दार्शनिक था, उसके विचारानुसार फ़िलासफ़ीकी परिभाषा है:—

"Philosophy is the science and criticism of cognition."

अनुभूति-विज्ञान या अनुभवालोचनका नाम ही दर्शन है। दर्शनकी यह परिभापा जिस समय काण्टके मस्तिष्कसे निकली होगी, उस समय सम्भव है कि वह एक सर्वांगपूर्ण और निर्दोष परिभाषा समझी जाती हो; परन्तु आज—आज इस बीसवीं शताब्दिमें तो यह परिभाषा एकदम संकीर्ण बन गई है, मानों तापमान घट जानेसे लोह-शलाका सिकुड़ गई हो। वर्तमान समयमें तो Epistemology अनुभूति-विज्ञानके नामसे एक स्वतंत्र शास्त्रका निर्माण हो चुका है जो कि स्वयं दर्शनशास्त्र नहीं वल्कि दर्शनशास्त्रका आधारमात्र है। एपिस्टमालाजी, अनुभूति-विज्ञानकी आधार-शिलापर फ़िलासफ़ीका विशाल भवन खड़ा हुआ है, इसमें सन्देह नहीं, मगर फिर भी अनुभूति-विज्ञान दर्शनशास्त्रका अपना स्वरूप नहीं है। उन दोनोंमें भेद है, वहुत भेद है।

इसी भावको लेकर की गई फ़िचूटे Fichte की दर्शनशास्त्रकी परिभाषा—" Philosophy is the docrine or science of knowledge." का मूल्य भी इससे कुछ अधिक नहीं है।

इसी प्रकार संसारके ख्याततम दार्शनिक प्लेटो और अरिस्टाटिलकी परिभाषाएँ भी आज कुछ फीकी और अपूर्णसी प्रतीत होती हैं। प्लेटोके अनुसार—

" Philosophy aims at a knowledge of the eternal, of the essential nature of the things."

उस अनादि तत्त्व, हाँ, उस अनन्त तत्त्व और पदार्थ-प्रकृतिका पर्यवेक्षण दर्शनशास्त्रका ध्येय है।

दर्शनशास्त्रकी यह परिभाषा वर्तमान समयकी ऑन्टालॉजी (Ontology) या मैटाफिज़िक्सकी सीमासे वाहर नहीं जाती।

अरिस्टाटिलकी दर्शनशास्त्रकी परिभाषा भी कुछ इससे मिलती जुलती हुई है। उसके अनुसार---

" Philosophy is the science which investigates the nature of being as it is in itself, and the attributes which belong to it in virtue of its own nature."

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, अरिस्टाटिलकी यह परिभाषा भी दूसरे शब्दोंमें ऑन्टालॉजीकी ही परिभाषा कही जा सकती है। अरिस्टाटिलकृत दर्शनकी परिभाषा और ऑन्टालॉजी (ontology) के अपने स्वरूपमें वस्तुतः कितना अधिक साम्य है, यह ऑन्टालॉजीके ऊपर दिये गये फुटनोटसे बड़ी स्पष्टताके साथ प्रतीत होता है। अपने अवयवार्थ (Ontos-Being and logos-science) के द्वारा (The science or the doctrine of being) का नाम ही ऑण्टॉलॉजी है और अरिस्टाटिलके अनुसार ठीक वही भाव दर्शन-शास्त्रकी परिभाषामें काम करता नज़र आता है। परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो Ontology भूतविद्या और दर्शनशास्त्र Philosophy दो भिन्न वस्तुएँ हैं। भूतविद्या दार्शनिक पहेलियोंके हल करनेमें महत्त्व पूर्ण, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेती है इसमें सन्देह नहीं, मगर फिर भी उन दोनोंके भीतर 'अन्तरं महदन्तरं' है। अरिस्टाटिलने एक अन्य स्थानपर दर्शनशास्त्रकी परिभाषा दूसरे शब्दोंमें की है---

"Philosophy is the science of first principles."

परन्तु आलोचकोंकी दृष्टिमें अरिस्टाटिल के नामके साथ यह परिभाषा भी कुछ फबती नहीं। परिभाषापठित First principles शब्द कुछ सन्दिग्ध है, परन्तु फिर भी सन्दिग्ध अर्थोंमेंसे किसी भी अर्थके लेनेपर दर्शनशास्त्रकी यह परिभाषा पूरी नहीं उतरती।

साधारणतः इस प्रसंगमें पठित First principles शब्दके दो अर्थ हो सकते हैं, परन्तु इन दोनों ही अवस्थाओंमें परिभाषाकी संकीर्णताका परिहार नजर नहीं आता। यदि इसका आशय ज्ञान या अनुभूतिके प्रारम्भिक सिद्धान्तोंसे है, तो उस अवस्थामें दर्शन-शास्त्र Ontology अनुभूति-विज्ञानका रूप धारण कर लेता है जो कि अभीष्ट नहीं। दूसरी अवस्थामें इसका आशय यदि इस विश्व-प्रपंचसे परे उसके भीतर कार्य करनेवाले नियमों और सिद्धान्तोंसे है, तो दर्शनशास्त्र फिर Epistemyolog की सीमाके भीतर अन्तर्भूत हो जाता है। अर्थात् अरिस्टाटिलकी इस परिभाषाका पथ दोनों ओरसे बन्द है, उसके लिए न इधर रास्ता है और न उधर। अरिस्टाटिलकी यह परिभाषा 'उभयतः पाशरज्जुः' का एक सुन्दर उदाहरण हो रही है।

फलतः आज दर्शनशास्त्रकी परिभाषा स्वयं एक जटिल समस्या बन गई है। उसके भीतर उन गहन और गूढ़तम तत्त्वोंका अन्तर्भाव है जो शायद शब्दशास्त्रकी पहुँचसे परे हैं। हमारे मँजे हुए मनोभावों, अन्तस्तलकी उज्ज्वल अनुभूतियोंको व्यक्त करनेका—दृश्य रूप देनेका—एकमात्र साधन है सरस्वतीकी साधना, भारती-की भावना या शब्दशास्त्रकी उपासना। परन्तु उस साधना, उस भावना और उस उपासनाके बाद भी विरले हैं जिन्हें उसकी सिद्धि होती है, शब्दशास्त्रके ऊपर अधिकार होता है या हो सकता है। अपने मनोभावों, अपनी अनुभूतियोंको व्यक्त करनेको सुन्दर और उपयुक्ततम शब्दोंके निर्वाचनमें कितनी कठिनाई होती है, इसका अनुभव साधारणसे चिन्तनके बाद हरएक आदमी कर सकता है।

नौसिखे खिलाड़ी और मँजे हुए फेकेतके हाथोंमें जो अन्तर है उसको दूर करनेके लिए जिस साधनाकी आवश्यकता होती है उससे कहीं अधिक बढ़कर, दृढ़तर साधना और निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता होती है इन बहते हुए अस्थिर शब्दोंपर शासन करनेके लिए। शब्दोंके उपयुक्ततम सुन्दर चुनावके भीतर ही संसारका सारा सौन्दर्य निहित है। प्रकृतिके सौन्दर्यका, विश्वकी विभूतिका, चिड़ियों-की चहचहाटका और हृदयकी उथल-पुथलका अनुभव शायद किसी न किसी रूपमें हरएक कर सकता है; परन्तु उस अनन्त आनन्दको परिमित शब्दोंके भीतर सीमित कर देना, कलेजेको निकालकर कागज़पर रख देना अत्यन्त दुष्कर है। उसके लिए तो कालिदासकी प्रतिभा, भवभूतिकी तपस्या और शेक्सपियरकी भावुकता चाहिए। हमारे और उनके बीचके इस सारे अन्तरका रहस्य शब्दोंके इस अनुकूल निर्वाचनमें ही छिपा है। कालिदास और भवभूतिके चित्रण संसारकी अलौकिक वस्तुओंमेंसे हैं; फिर भी यह कौन कह सकता है कि वे अपनी अनुभूतियोंको अविकल रूप-में चित्रित कर सके हैं? यह परिमित और सान्त शब्दसमूह उस अनन्त या अपरिमेय आनन्द या वैभवको व्यक्त या सीमित कर सकनेमें असमर्थ है। यह भी एक कारण है जो दर्शनशास्त्रकी परिभाषाको कठिन और दुस्साध्य बना देता है। एक तो दार्शनिक स्वरूपकी गहनता और उसपर शब्दशास्त्रकी निष्ठुरता दोनोंने मिलकर इस कार्यको और भी जटिल कर दिया है। इसलिए दर्शन-शास्त्रकी परिभाषा करते समय हमें उपयुक्त शब्दोंकी कमीका अनु-भव होता है जो इससे सम्बन्ध रखनेवाली सारी भावनाओंको व्यक्त कर सके।

ऊपर दी हुई दर्शनशास्त्रकी परिभाषाओंमेंसे जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं किसीको पूर्ण नहीं कहा जा सकता; परन्तु फिर भी इतना अवश्य है कि वह सब एक सूत्रमें बँधी हुई हैं—एक प्रवाहमें बह रही हैं। एक समान भाव है जो कि उनमेंसे हर एकके भीतर काम करता नज़र आता है, यही भाव दर्शनशास्त्रकी जान है। यही वह मौलिक तत्त्व है, यही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर दर्शन-शास्त्रकी सारी परिभाषायें चक्कर लगा रही हैं। उसीके भीतरसे दर्शनशास्त्रकी उत्पत्ति और विकास होता है और अन्तको उसीके भीतर उसका लय हो जाता है। मैं क्या हूँ? यह दृश्यमान् जगत् क्या है? हम दोनों कहाँसे आये और कहाँ जा रहे हैं? इन प्रश्नोंकी उत्पत्तिके साथ ही दार्शनिक प्रक्रियाका प्रारम्भ होता है और इन प्रश्नोंके उत्तरमें ही दर्शनशास्त्रका यवनिकापात, समाप्ति, हो जाती है। प्लेटो, अरिस्टाटिल या फ़िच्टेने अपनी अपनी परिभाषाओंमें चाहे जो शब्द रखे हों; परन्तु उनकी परिभाषाओंकी जान—उनके भीतरका मौलिक रहस्य—यही भाव है। पूर्व और पश्चिमके नवीन और प्राचीन सारे दार्शनिक साहित्यका अनुशीलन एकमात्र इसी परिणामपर पहुँचाता है। इतने लम्बे-चौड़े, पुराने और विस्तृत दार्शनिक साहित्यका मुख्य आलोच्य विषय यही भाव रहा है। इन ही प्रश्नोंका उत्तर खोजनेमें ही संसारकी सारी प्रतिभा व्यय हो गई है, ऐसा प्रतीत होता है। पूर्व और पश्चिमके सारे दार्शनिक साहित्यमें इन प्रश्नोंकी आलोचनाके अतिरिक्त जो कुछ है वह थोड़ा—बहुत थोड़ा है, और वह भी सूरजमुखीकी तरह परमुखापेक्षी इसी भावका मुख देख रहा है, इसीके समर्थनमें उसका निर्माण हुआ है।

समाज और दर्शन

उपर्युक्त मौलिक समस्याओंके सुलझानेमें ही संसारका सारा सौन्दर्य समाप्त हो जाता है और इस दार्शनिक मीमांसासे उसका अपना अव्यक्त स्वरूप व्यक्त हो जाता है । प्रकृति सुन्दर है, बहते हुए झरनेमें सौन्दर्य है, प्रातःकालके उगते हुए नग्न सूर्यमें सौन्दर्य है, और बाहर गलीकी धूलमें लोटते हुए सरल बालककी चपल चेष्टाओंमें सौन्दर्य है। यह सब सौन्दर्य प्रकृति देवीकी बरकत है। प्रकृतिके राज्यमें जो कुछ है सुन्दर है, असुन्दरसे उसे घृणा है, मानो वह उसकी सृष्टि ही नहीं है । वह तो स्वयं 'सौन्दर्यसारसमुदायनिकेतनं' है । उससे असुन्दर कैसे पैदा हो सकेगा? प्रकृति देवीका वह अक्षय सौन्दर्य-भंडार चारों ओर बिखरा पड़ा है, हरएक व्यक्तिको उसका उपभोग करनेका अबाधित अधिकार प्राप्त है, परन्तु असन्तोषी मनुष्य फिर भी उस अपरिमित नग्न सौन्दर्यसे सन्तुष्ट न रह सका, उसने अपनी दृष्टिमें उस सुन्दर विश्वको सुन्दरतर बनानेका यत्न किया; परन्तु

'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'

वह तो विधाताकी लीला थी, प्रकृति देवीकी सुन्दर सृष्टि थी, उसका पार पा सकना कठिन था । अपने इस सारे प्रयासके बाद मनुष्यने जो कुछ बनाया उसपर एक नज़र डाली । इसमें सन्देह नहीं कि वह उसकी अपनी कृति थी, इसलिए उसे असन्तोषका अवसर न मिला; फिर भी वह सौन्दर्य वास्तविक न था। वह तो धोखा था, दिखावा था, मुलम्मा था, परन्तु इस अज्ञानी मनुष्यने उसे सुन्दर समझा और जी जानसे उसपर फ़िदा हो गया । राजकीय वस्त्रागारोंके वह चटकीले भड़कीले कपड़े ही उसकी दृष्टिमें सुन्दर थे; मगर वह भूल गया जंगलके

उस एकान्त स्थलमें खिली हुई छोटी छोटी घासके उस मैदानको जिसके लिए महात्मा ईसाने कहा था—

"इस खुले मैदानमें उस घासको देखो, वह कैसे बढ़ते हैं। वह न मेहनत करते हैं और न कातते हैं; लेकिन फिर भी मैं सच कहता हूँ कि स्वयं सुलेमान भी अपनी सारी सम्पत्ति और वैभव लगाकर उनमेंसे किसीके बराबर सुन्दर और चित्ताकर्षक पोशाक न पहिन सका।"

—मैथ्यू

प्रकृतिके उस अनावृत्त सौन्दर्यके ऊपर अपना कृत्रिम, भद्दा आवरण चढ़ाकर मनुष्यने उसे सुन्दर समझा, यह उसकी पहली भ्रान्ति थी। वह अनन्त अपरिमेय सौन्दर्य, जो इस भद्दे आवरणके भीतरसे भी छलका पड़ता था, प्रकृति देवीकी विभूति थी; मनुष्यका उसपर कोई अधिकार न था। वह तो उसका केवल एक द्रष्टा मात्र था। प्रकृति-नटी इस विश्व-मंचपर अपने थिरकते हुए सौन्दर्यको बिखेरती हुई आई, दो-चार-छः मिनट जबतक रही विविध हाव-भाव और अभिनय करती रही, दर्शककी गैलरीमें बैठे हुए मनुष्यको केवल उस निखरे हुए सौन्दर्यको देखनेका अधिकार दिया गया था। वह सौन्दर्य उसका न था और न उसपर दर्शकका कोई अधिकार था। मगर वह इस सचाईको भूल गया और उसके साथ ममत्व जोड़ बैठा। यह उसकी दूसरी भ्रान्ति थी। मनुष्यकी अपनी इन कल्पित विभूतियोंके आधारपर ही उसकी सारी व्यवस्थाओंका संचालन हो रहा है। दार्शनिक विज्ञानका कार्य इस आवरणको हटा देना मात्र है। दार्शनिक-मीमांसा, उस आवरणको हटाकर, उस मुलम्मेको उतारकर प्रकृतिका अनावृत—यथार्थ रूप और मनुष्यके उसके साथ सम्बन्धका असली

रूप व्यक्त कर देती है । बस यहींपर दर्शनशास्त्रके प्रारम्भिक प्रश्नोंका—मैं क्या हूँ? यह दृश्यमान् जगत् क्या है? हमारा क्या सम्बन्ध है? और हम कहाँसे आये कहाँ जा रहे हैं?—उत्तर मिल जाता है । और उसके साथ ही दार्शनिक अभिनयका यवनिकापात भी उसीके परिणाममें हो जाता है ।

परन्तु दार्शनिक प्रक्रियाके इस परिणाममें ही विश्व-व्यवहारका प्रारम्भ होता है । जहाँपर दार्शनिक विमर्शकी समाप्ति होती है वहींसे लोकव्यवहारका विकास प्रारम्भ होता है, अर्थात् मानव-समाजकी उन्नति और अवनति एवं उसकी गति-विधिका निर्धारण आदि सब कुछ इन दार्शनिक विमर्शके परिणामोंके ऊपर ही निर्भर है । दूसरे शब्दोंमें दर्शनशास्त्र ही मानव-समाजका नेता या पथप्रदर्शक है ।

अभी सम्भवतः हमारे इस सिद्धान्तके स्पष्टीकरणके लिए कुछ पंक्तियोंकी और आवश्यकता है ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि मनुष्यने अपने हृदयमें इस विश्वका जो स्वरूप और उसके साथ अपना जो सम्बन्ध एक बार निर्धारण कर लिया है, उसीके आधारपर उसका सारा व्यवहार नियमित है । विश्वकी अपने हृदयमें स्थापित की हुई उसी मूर्ति और उसके साथ कल्पित किये हुए अपने सम्बन्धके नामपर ही उसका खाना पीना, उठना बैठना, देखना भालना, और रोना हँसना सब कुछ होता है । जब तक उस मूर्तिके स्वरूप या उस कल्पित सम्बन्धमें कोई अन्तर नहीं होता, तब तक उसके व्यवहारमें भी कोई अन्तर नहीं आता । उदाहरणके लिए, रामके हृदयमें देवदत्तकी एक मूर्ति स्थापित है । मूर्ति सुन्दर है, सुडौल है और रामकी उसपर आस्था है । वह उसे

अपना मित्र तथा बड़ा भाई समझता है और उसी दृष्टिसे उसका आदर करता है। यह रामके हृदयमें स्थापित देवदत्तकी एक मूर्ति और उसके साथ अपने एक कल्पित सम्बन्धका परिणाम था। दूसरे दिन परिस्थितियोंके प्रभावसे रामके हृदयमें प्रतिष्ठित उस मूर्तिके स्वरूप और सम्बन्धमें परिवर्तन हो जाता है। आजसे राम देवदत्तका जानी दुश्मन बन गया। उसके हृदयमें पहले प्रेम, आस्था और आदरके स्थानपर घृणा, द्वेष और प्रतिहिंसाका राज्य हो जाता है। देवदत्तके नामसे उसे चिढ़ मालूम होती है। यह उसी कल्पित सम्बन्धके परिवर्तनका प्रभाव है। इसी लिए हमने कहा था कि विश्वका जो स्वरूप हम समझ लेते हैं और उसके साथ जिस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पना कर लेते हैं, उसीके आधारपर हमारी सारी गति-विधि निर्भर रहती है। ठीक यही व्यवस्था सारे मानव-समाजकी है। यह दृश्यमान जगत् क्या है? और इसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? इस मूल सिद्धान्तको समझ लेनेके बाद ही मानव-समाजके हर प्रकारके नियमों, अवस्थाओं और गति-विधियोंका निर्धारण होता है। दूसरी ओर इन मूल सिद्धान्तोंके स्पष्टीकरणका, इस स्वरूप और सम्बन्धविषयक प्रश्नोंका उत्तर देना दर्शनशास्त्रका अन्तिम ध्येय है। इन प्रश्नोंके उत्तरमें ही दर्शनशास्त्रका यवनिकापात होता है और उनके उत्तरसे ही मानव-समाजकी वास्तविक व्यवस्था प्रारम्भ होती है। अर्थात् जहाँ दर्शनशास्त्रका अन्त होता है वहींसे समाज-शास्त्र या लौकिक व्यवहारका प्रारम्भ होता है। इसी लिए हमने कहा था कि दर्शनशास्त्र मानव-समाजका नेता या पथप्रदर्शक है।

सम्भव है कि बहुतसे लोगोंको हमारे इस सिद्धान्तपर आपत्ति हो; परन्तु हमारे विचारमें यह सत्य कोरा सैद्धान्तिक सत्य ही नहीं

-बल्कि एक ऐतिहासिक सचाई है। संसारका सारा इतिहास विना किसी मतभेदके एक स्वरसे इस सिद्धान्तका समर्थन कर रहा है। भारतीय युद्धके प्रारम्भमें उसके प्रधान पात्र धनुर्धर अर्जुनका दर्शन हमें दो अत्यन्त भिन्न रूपोंमें होता है। अर्जुनकी पहली झाँकीमें एक कापुरुषका चित्र सामने आता है, उसकी सारी देह काँप रही है, शरीर पसीना पसीना हो रहा है, हाथोंसे धनुष्य खिसका पड़ता है, मानों उनमें जान ही न हो, उसके मुखसे कुछ शब्द भी निकल रहे हैं, मानो वह कह रहा है—

गांडीवं संस्रते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

लोग कहते हैं, यह धनुर्धर अर्जुनकी—गांडीवी अर्जुनकी—मूर्ति है, मगर देखनेवाला तो शायद ही विश्वास कर सके। कृष्णके गीताके उपदेशके बाद अर्जुनकी दूसरी झाँकी दिखाई देती है। परन्तु इस अर्जुन और पहलेके अर्जुनमें आकाश-पातालका अन्तर है। एक जमीनपर रेंग रहा है तो दूसरा गगनमें विहार कर रहा है, एक कायरताका अवतार है तो दूसरा साक्षात् देहधारी वीररसकी मूर्ति है। पहले अर्जुनकी वह दुर्बलता, वह अस्थिरता और वह कायरता न जाने कहाँ काफूर हो गई! उनके स्थानपर बल, वीर्य दृढता और पौरुषका दिव्य दर्शन हो रहा है। यह दो मूर्तियाँ हैं, भिन्न भिन्न हैं, ऐसी भिन्न जैसे तम और आलोक, उषा और मध्याह्न, कमल और कुलिश। परन्तु दोनों मूर्तियाँ हैं एक ही अर्जुनकी। कैसा आश्चर्य है! यह करिश्मा है, कौशल है, उसी दार्शनिक विमर्शका, उसी मौलिक सिद्धान्तका। पहले अर्जुनके हृदयमें कौरव-सेनाका एक चित्र था और

उसके साथ अर्जुन अपना एक विशेष सम्बन्ध समझे हुए था। पहले अर्जुनकी सारी भीरुता और दुर्बलताका श्रेय इसी कल्पित सम्बन्ध एवं स्वरूपको है। अर्जुनकी दूसरी झाँकीके समय श्रीकृष्णके उपदेशसे कौरव-सेनाकी उस मोहमयी मूर्त्ति और स्नेहमयी भावनाका रूप परिवर्तित हो चुका था, इसलिए अब अर्जुनके व्यवहारमें भी भेद था। पहला अर्जुन एक क्षुद्र कापुरुष है और दूसरा रणराता अर्जुन क्षत्रियत्वकी लाज है। दोनों अर्जुनोंकी सृष्टिका आधार उसी मौलिक सिद्धान्तपर है जिसका कि उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह है हमारे सिद्धान्तके समर्थनमें पहली ऐतिहासिक साक्षी।

बहुत दिनोंकी बात है, भारतीय समाजकी मनोवृत्तिमें एक विशेष प्रकारका परिवर्तन हो रहा था। परिवर्तन अत्यन्त घातक था इसमें सन्देह नहीं, परन्तु फिर भी भारतीय मनोवृत्ति उस प्रवाहमें बड़ी प्रबलताके साथ बही जा रही थी। किसीसे पूछो—भाई, तुम्हारी शारीरिक अवस्था दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है, तुम इसकी संरक्षाकी विशेष चिन्ता क्यों नहीं करते ? उत्तर सुनकर आश्चर्य होता था— यह सब जगत् तो मिथ्या है, फिर यह देह भी तो मिथ्या है, इस मिथ्या देहके लिए कौन प्रयास करे ? इसी प्रकारके रिजर्व उत्तर मिल जाया करते थे, यदि व्यक्ति या समाजका कोई हितैषी शारीरिक या सामाजिक त्रुटियोंकी ओर ध्यान आकर्षित करता। जगन्मिथ्यात्ववाद और ब्रह्मात्मवादके सिद्धान्तोंने सर्वसाधारणके ऊपर विष-प्रभाव जमा रखा था। अपनी शारीरिक और सामाजिक त्रुटियोंको अनुभव करनेका सामर्थ्य भारतीय जन-समाजके भीतरसे जाता रहा था, यहाँ तक कि उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करनेपर भी सुधार या अनुभव

करनेके बजाय कहनेवालेको एक अच्छा खासा व्याख्यान जगत्की निःसारता और उसके मिथ्यात्वके ऊपर सुननेको मिल जाता। अपनी कमजोरियोंको अनुभव न कर सकना यही पतनकी चरम श्रेणी है। शनैः शनैः भारतीय समाजकी अवस्था बिगड़ने लगी। वह हृष्ट पुष्ट भारतीय नव-युवक भी जगत्की निःसारताका अनुभव करते हुए इस निःसार देहकी चिन्तासे भी शून्य हो गये। इस उपेक्षाका आवश्यक और अनिवार्य परिणाम था समाजकी शारीरिक शक्तिका ह्रास। उसका दुःखद दृश्य भी भारतमें घर घर दिखाई देने लगा। शारीरिक शक्तिके ह्रासके साथ ही सामाजिक शक्तिका ह्रास भी प्रारम्भ हो गया। भारतकी शारीरिक और सामाजिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो उठी। यह मानव-हृदयके भीतर चित्रित की गई एक मूर्ति और उसके साथ नियत किये गये एक सम्बन्धका प्रभाव था। इस चित्रका चितेरा और इस सम्बन्धका स्रष्टा था वही दार्शनिक विमर्श।

समयने पलटा खाया। तात्कालिक भारतके उपयुक्ततम चिकित्सक महात्मा चार्वाकके दार्शनिक विचारोंने ठीक दूसरे प्रकारकी विश्वमूर्ति भारतीय नवयुवकोंके हृदय-पटलपर अंकित की। उनके

यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

की फ़िलासफ़ीने विश्व-चरित्रका जो चित्रण और उसके साथ हमारे जिस सम्बन्धकी स्थापना की, उसके कारण जगन्मिथ्यात्ववादके प्रवाहमें बहती हुई भारतीय मनोवृत्ति एकदम परिवर्तित हो गई। यह दोनों ही परिस्थितियाँ तात्कालिक दार्शनिक विमर्शका परिणाम थीं। हमारे प्रकृत सिद्धान्तको समर्थन करनेवाली भारतीय इतिहासकी यह दूसरी साक्षी है।

सोलहवीं सदीकी बात है, योरोपके इतिहासमें एक नवीन अध्याय लिखा जा रहा था। इस अध्यायका शीर्षक है 'धर्म और विज्ञान।' वह ज़माना धर्म और विज्ञानकी प्रतिद्वन्दिताका था। योरोपीय जन-समाजके भीतर धर्म, मज़हब, बाइबिलने विश्वकी एक मूर्ति चित्रित कर रखी थी और उसके साथ एक प्रकारका सम्बन्ध स्थापित कर रखा था। विश्वकी उसी मूर्ति और उसी सम्बन्धके आधारपर अबतक योरोपकी सामाजिक नीतिका सूत्र संचालन होता था। इसके विपरीत कुछ लोगोंके दार्शनिक विमर्शने उस विश्वमूर्ति और विश्व-सम्बन्धको रूपान्तरित कर दिया, इस लिए उनकी नीति-रीतिमें भी भिन्नता आ जाना अनिवार्य था। यह नवीन दल इतिहासमें वैज्ञानिक दलके नामसे विख्यात है। तत्कालीन योरोपमें इन दो विभिन्न विश्वमूर्तियोंके नाम-पर जो भीषण रुधिर-प्रवाह बहा है, उसे देख सुन और जानकर आज भी रूह काँप उठती है। उस ज़मानेमें धर्मकी आड़में वैज्ञानिकोंके ऊपर किये गये उन अमानुषीय अत्याचारोंको देखकर तो एक बार स्वयं निर्दयता भी लजा उठेगी। इन सबका सिरजनहारा भी वही दार्शनिक विमर्श था।

फलतः संसारके इतिहासपर एक सरसरी नज़र डालनेके बाद भी बड़े ज़ोरदार शब्दोंमें इस सिद्धान्तका समर्थन किया जा सकता है कि दार्शनिक विमर्श ही वस्तुतः विश्व-समाजका विधायक, नेता या पथप्रदर्शक है। मानव-समाजकी गति-विधिपर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है, इसलिए यूनानके प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटोने अपनी पुस्तक 'दी रिपब्लिकन' में लिखा है कि दर्शनके पूर्ण आधिपत्यमें ही समाजका कल्याण है। उसने बड़ी सुन्दरता तथा

दृढ़ताके साथ इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है कि समाज तथा मनुष्यका कल्याण तभी हो सकता है जब कि राजनीतिक शक्तियों और दर्शनशास्त्रका पूर्ण रूपसे सहयोग हो।

सम्भव है कि अभी प्लेटोके शब्दोंके साथ उपर्युक्त सिद्धान्तका सामंजस्य स्पष्ट न हुआ हो, इसके लिए प्लेटोके दर्शन-शास्त्रकी स्फुटतर व्याख्याकी आवश्यकता है। अपने इस दर्शन शब्दकी विशद व्याख्या करनेका प्रयास स्वयं प्लेटोने ही किया है। हम यहाँ उन्हीं विचारोंका संग्रह संक्षेपमें कर रहे हैं। दर्शनशास्त्रके वास्तविक स्वरूपको व्यक्त करनेके लिए प्लेटोने सारे ज्ञानके तीन विभाग किये हैं—
१ ज्ञान, २ विचार, ३ अज्ञान।

१ सत्य पदार्थोंकी जानकारी ही प्लेटोके अनुसार ज्ञान शब्दसे निर्दिष्ट की जा सकती है। उसकी दृष्टिमें आदर्श, सुन्दर तथा विवेकयुक्त विषय ही सत्य है। इसलिए आदर्श, सुन्दर तथा विवेकयुक्त विषयोंकी यथार्थानुभूतिका नाम ही ज्ञान है।

२ जिन वस्तुओंका इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है उनके ज्ञानको प्लेटो विचार कहता है। अर्थात् प्लेटोके अनुसार इस दृश्यमान् जगत्में हम विचार करते हैं।

३ ज्ञान और विचारके अभावको ही अज्ञान कहा जा सकता है।

इन तीनों कोटियोंमेंसे प्लेटोके दर्शनिक शब्दका प्रयोग केवल उसके लिए होता है जो ज्ञानका अध्ययन करता है। इस लिए दृश्यमान् जगत्से परे, मैं क्या हूँ? इस जगत्का असली स्वरूप क्या है? हम दोनों कहाँसे आये और कहाँ जा रहे हैं? आदि सत्य, सुन्दर, आदर्श और विवेकयुक्त विषयोंका अध्ययन ही दर्शनशास्त्रका अन्तिम

ध्येय है और सच्चे दार्शनिक विमर्शके आधिपत्यमें ही संसारका सच्चा कल्याण हो सकता है, ऐसा निर्विवाद और निश्चित रूपसे कहा जा सकता है।

दार्शनिक क्षेत्र

वह समस्यायें जिनके हल करनेका भार दर्शनशास्त्रने अपने ऊपर लिया है बड़ी व्यापक हैं। एक तरहसे यह कहा जा सकता है कि उन्हींके भीतर विश्वकी सारी व्यवस्थाकी आलोचना समाप्त हो सकती है। दूसरे शब्दोंमें सारे विश्व-प्रपंचकी विशद व्याख्या करनेका महान् उत्तरदायित्व दर्शनशास्त्रके सिरपर है। कारलाइलने लिखा है कि संसारकी किसी छोटीसे छोटी घटनाका भी विश्लेषण यदि प्रारम्भ किया जाय तो उसके भीतर एक, दो, तीन करके इतनी आवान्तर बातें निकल आवेंगी जिनमेंसे एक एकके ऊपर उसी प्रकारकी स्वतंत्र विवेचनाकी आवश्यकता होगी। एकके भीतर दूसरी और दूसरीके भीतर तीसरी बात ऐसे ही छिपी दिखाई देगी—

ज्यों केराके पातके पात–पातमें पात।

इतने व्यापक, अपरिमेय, दुर्बोध और जटिल विषयकी विवेचनाका प्रयत्न दार्शनिकका मस्तिष्क करता है। जिसकी सूझ जहाँतक पहुँच सकती है, वहाँ तककी विशद और सुन्दर विवेचना वह करता है। परन्तु फिर भी वह विवेचना मानव-मस्तिष्ककी उपज है, कौन कह सकता है कि वह सर्वथा निर्दोष, सत्य और एकान्त विश्वसनीय है? फिर भी संसारके विभिन्न विवेचकोंद्वारा प्रस्तुत की गई विश्वकी इन अनेकों व्याख्याओंमेंसे कौनसी व्याख्या हमारे मस्तिष्क और हृदयको

अधिक सन्तुष्ट कर सकती है, इसी भावनाको लेकर उनके ऊपर एक तुलनात्मक दृष्टि डालनेके लिए यह हमारा प्रयास है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस विश्व मात्रकी व्याख्या करनेका भार दर्शनशास्त्रके ऊपर है। साधारण दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह विश्व हमें तीन भागोंमें विभक्त दिखाई देता है, इस लिए सुविधाके विचारसे इस गहन कार्य और विस्तृत विषयको भी तीन अवान्तर भागोंमें विभक्त किया जा सकता है।

१ विश्वका सबसे मोटा स्वरूप हमारे चारों ओरका यह दृश्यमान् जगत् है। हम इसे 'प्रकृति' शब्दसे निर्दिष्ट करेंगे।

२ विश्वका दूसरा वह सूक्ष्मतर भाग है जिसे पाश्चात्य जगत् माइण्ड या सोल शब्दसे कहता है और जो प्राणियोंके भीतर पाई जानेवाली चेतनाका आधार है। हम पौरस्त्य दार्शनिकोंके अनुसार इस शक्तिके लिए 'जीवात्मा' शब्दका प्रयोग करेंगे।

३ विश्वका तीसरा सूक्ष्मतम भाग इन दोनोंसे परे है। साधारण श्रेणीके व्यक्ति उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते। इसी लिए उसकी सत्ता सबसे अधिक विवादग्रस्त भी है। इस तृतीय शक्तिका विश्वनियन्ता या जगत्कर्ताके रूपमें अनुमान किया जाता है। हम इसके लिए साधारणतः 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग करते हैं।

इन तीन—केवल इन्हीं तीन—विभागोंके भीतर निखिल विश्वका अन्तर्भाव हो जाता है। इन्हीं तीनोंकी विवेचनामें दर्शनशास्त्रके प्रारम्भिक प्रश्नों—मैं क्या हूँ? यह दृश्यमान् जगत् क्या है? हम दोनों कहाँसे आये और कहाँ जा रहे हैं?—का उत्तर भी समाप्त हो जाता है और उसके साथ ही दर्शनशास्त्रका कार्य भी समाप्त हो जाता है।

परन्तु इनमेंसे एक एक विषयकी आलोचनामें, एक एक प्रश्नके उत्तरमें अनेकानेक प्रश्न उठते जाते हैं जिनका उत्तर देना दुष्करतर हो जाता है।

साधारणतः इस दृश्यमान् जगत् या प्रकृतिकी आलोचनाका आधार मुख्यतः भौतिक विज्ञान और सृष्टि-विज्ञान कहे जा सकते हैं। अत एव प्रकृति-निरूपणके इस प्रथम प्रकरणको बाह्य जगत्के यथार्थ स्वरूप और उसकी उत्पत्ति आदिकी आलोचनाकी आवश्यकता है। यह दृश्यमान् जगत् एक क्रमबद्ध और नियमित समष्टि है। उसके प्रत्येक कार्यमें नियम और व्यवस्थाका अनुभव होता है। इसलिए इस विषयकी आलोचनामें मुख्यतः इन प्रश्नोंका उत्तर आवश्यक प्रतीत होता है—

१ क्या यह विश्व-चक्र बिना किसी नियामक बन्धनके स्वतंत्र रूपसे स्वयं चल रहा है? अथवा किसी शक्तिमान् नियन्ताकी शक्ति उसका नियंत्रण कर रही है?

२ क्या इस विश्वका इतिहास है? अर्थात् क्या वर्तमान विश्वमें विचरण करनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि और स्वयं जड़-जगत्को वर्तमान स्वरूप किसी नीची अवस्थासे क्रमशः विकसित होते होते प्राप्त हुआ है? यदि हाँ, तो उस विकासका स्वरूप क्या है? क्या वह नितान्त स्वतंत्र रूपसे स्वयं संचलित हो रहा है? अथवा कोई विचारशील शक्ति किसी विशेष प्रयोजनसे उसका संचालन कर रही है?

३ प्रकृतिका अपना यथार्थ स्वरूप क्या है?

प्रकृति प्रकरणकी आलोचनामें जिन प्रश्नोंका उत्तर आवश्यक प्रतीत होता है, उनमेंसे कुछ यह हैं। इसी प्रकार जीवात्माके विषयमें निम्न प्रश्नोंका विवेचन आवश्यक है—

जीवात्माका स्वरूप क्या है? आत्मा और ऐन्द्रिक जगत् अर्थात् शरीरका सम्बन्ध क्या है? क्या मनुष्यकी आत्मा प्राणिजगत्में होनेवाले क्रमिक विकासका परिणाम है? मानव-हृदयमें उठनेवाली सदाचारिक भावनाओंका आधार क्या है? मनुष्यका समाजके साथ क्या सम्बन्ध है? क्या यही जीवन हमारा आदि और अन्त है?

इस विश्वके तृतीयांश, ईश्वरसम्बन्धी विचार विशेषतः उपर्युक्त दोनों विषयोंकी आलोचनाके ऊपर ही निर्भर हैं। इस सम्बन्धमें उठनेवाले प्रश्नोंमेंसे कुछ प्रश्न यह हो सकते हैं—परमात्माका स्वरूप क्या है? उसकी अदृष्ट सत्ताकी कल्पना करनेका प्रयोजन क्या है? इस प्रकृति और जीवात्माके साथ उसका क्या सम्बन्ध है? क्या जगत्का सर्जन करनेके बाद अब वह उसके संचालन आदिकी ओरसे बिलकुल उदासीन है या अब भी उसहीकी आज्ञासे जड़-जंगम-जगत्की प्रत्येक चेष्टा होती है?

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन तीन तत्त्वोंके निरूपणमें वस्तुतः अखिल विश्वका निरूपण समाप्त हो जाता है और उसके साथ ही दर्शनशास्त्रके प्रारम्भिक प्रश्नोंका उत्तर भी बड़ी सरलताके साथ मिल जाता है। इस लिए हम कह सकते हैं कि इस त्रित्ववादका विवेचन विश्वमात्रका विवेचन है, उसीके भीतर अखिल विश्वका और सारी दार्शनिक प्रक्रियाका आदि और अन्त है। त्रित्ववाद दर्शनका आदि है, त्रित्ववाद दर्शनका अन्त है। हम आगेकी पंक्तियोंमें इसी त्रित्ववादकी कुछ आलोचना करनेका प्रयास करेंगे।

दूसरा परिच्छेद

हमारे चारों ओर दूर तक—अनन्त तक—फैला हुआ एक विशाल साम्राज्य है और उस विशाल साम्राज्यके साथ अनादि अनन्त कालकी घनिष्ठ प्रीति है। यह सारा संसार-चक्र उस सुदूरवर्ती अतीतसे चला आ रहा है और मालूम नहीं कब तक, कहाँतक, चला जायगा। इस विश्वके किसी छोटे, अत्यन्त तुच्छ पदार्थका भी यदि विश्लेषण किया जाय तो उसमें प्रतिक्षण अनन्त नूतनताओंका आविर्भाव होता चला जायगा और इस समग्र विश्वकी नूतनताओंका तो अन्त ही कहाँ है। केवल अपने आसपासके इस दृश्यमान् जगत्के समझनेके लिए अपनी प्रतिभापर अभिमान करनेवाले मानव-समाजके उत्तमसे उत्तम मस्तिष्कोंने शताब्दियाँ लगा दीं, केवल एक एक बातके समझनेमें उनकी पीढ़ियाँ व्यय हो गईं; परन्तु उसका नूतनताओंका अन्त न हुआ। फलतः, यह विश्व अनन्त है, उसमें अनन्त पदार्थ हैं, और सब एक दूसरेसे भिन्न हैं। परन्तु इस अनन्त और अत्यन्त विभिन्न विश्वके भीतर एक भाव है जो उस सबको एक सूत्रमें बाँधे हुए है। यही भाव है जो जगत्के अनन्त भेदोंमें अभेदका दर्शन कराता है। संसारके किसी भागमें चले जाओ, वह सूत्र, वह भाव, वह नियम हर जगह समान रूपसे कार्य करते दृष्टिगोचर होंगे। इन्हींको हम प्राकृतिक नियम कहते हैं। वैज्ञानिक युगके प्रारम्भसे लेकर आज तकके सारे भौतिक-विज्ञान-वेत्ताओंके

अन्वेषणोंके आधारपर कहा जा सकता है कि सारे भौतिक ब्रह्माण्डकी सृष्टि समान तत्त्वोंसे हुई है, और उसके भीतर एक समान ही भौतिक नियम प्रचरित हो रहे हैं। गुरुत्वाकर्षण, रासायनिक प्रीति, शक्ति-साम्य और अन्यान्य सारे प्राकृतिक नियम समग्र विश्वमें समानरूपसे लागू हैं। इसी प्रकार प्राणि-जगत्का सार भी यही है कि सारे प्राणि-जगत्की सृष्टि समान तत्त्वोंसे हुई है और एक सिरेसे दूसरे सिरे तक समग्र प्राणि-जगत्में एक ही प्रकारके प्राकृतिक विधान कार्य कर रहे हैं। फलतः आज तकके हर प्रकारके वैज्ञानिक अन्वेषणोंका परिणाम यह है कि यद्यपि यह ब्रह्माण्ड अनन्त विचित्रताओं-का भंडार है फिर भी उस भेदभावनाके भीतर अभेदवादकी एक उज्ज्वल रेखा दिखाई देती है। इसे प्राकृतिक नियमका नाम दिया जा सकता है। यह नियम नित्य हैं, सनातन हैं, सदासे चले आये हैं और सदा चले जावेंगे। उनका आधार स्वयं प्रकृति है। परन्तु यह प्रकृति क्या है? इस प्रश्नका उत्तर सभी दार्शनिकोंने अपने अपने दृष्टिकोणसे देनेका प्रयास किया है। इनमेंसे सबसे अधिक सुगम प्रचलित और सम्भवतः प्राचीन भी परमाणुवाद है।

परमाणुवाद

पाश्चात्य दार्शनिक संसारमें परमाणुवादका जन्म ईस्वीसन्-पूर्व ४२० में हुआ था। यूनान देश इसकी जन्मभूमि है और वहाँके प्रसिद्धतम दार्शनिक डिमाक्रिटसके मस्तिष्कसे उसकी सृष्टि हुई है। इस सिद्धान्तके अनुसार जगत्का उपादान कारण, प्रकृति भौतिक पर-माणु-पुंजका नाम है। इस परमाणुवादकी स्थापना करते समय पदार्थ-विश्लेषणका नियम विशेष रूपसे उपयोगमें आया है। पदार्थ-

विश्लेषणके नियमसे हमारा आशय यह है कि यदि संसारके किसी पदार्थका विश्लेषण प्रारम्भ किया जाय, तो क्रमशः उसे लघु, लघुतर भागोंमें विभक्त करते हुए हम एक ऐसी अवस्थापर पहुँचेगे कि जिसके आगे उस पदार्थका विभाग कर सकना असम्भव हो जायगा। दृश्यमान पदार्थके इस अन्तिम, लघुतम भागको वैज्ञानिक भाषामें मालीक्यूल Molecules कहते हैं। इस अवस्था तक पदार्थका अपना स्वरूप स्थिर रहता है। परन्तु इसके आगे विश्लेषण-पथमें एक पग भी और बढ़े, तो उसके साथ ही पदार्थका अपना स्वरूप क्षीण हो जाता है और उसके स्थानपर दो भिन्न भिन्न तत्त्वोंके परमाणु रह जाते हैं जिनके सम्मिश्रणसे उस पदार्थके अणु या मालीक्यूलकी रचना हुई थी। उदाहरणके लिए, यदि इसी विश्लेषण नीतिका आश्रय लेकर जलका विश्लेषण किया जाय, तो उसके लघुतम रूपमें जलके मालीक्यूल या जलके अणुओंकी उपलब्धि होगी, परन्तु यदि विश्लेषण-पथमें एक कदम और उठाया जाय, तो जलके मालीक्यूलसका भी विश्लेषण होकर दो भिन्न तत्त्वोंके तीन परमाणु शेष रह जावेंगे, जिनमेंसे दो परमाणु हाइड्रोजनके होंगे और एक परमाणु आक्सीजनका। हाइड्रोजन और आक्सीजनके भिन्नजातीय तीन परमाणुओंका इस नियत अनुपातसे सम्मिश्रण होनेपर जलकी उत्पत्ति होती है। विश्लेषणात्मक परीक्षणके इस अन्तिम परिणामके रूपमें उपलब्ध होनेवाले द्रव्यको ही परमाणु शब्दसे निर्दिष्ट किया जाता है। यह परमाणु-विश्लेषणकी चरम सीमा है, उसके आगे विश्लेषण हो सकना सर्वथा असम्भव है। भौतिक तत्त्वोंके यही परमाणु इस समग्र विश्वके उपादान कारण हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके अनुसार यह परमाणु ८० प्रकारके होते हैं।

भारतीय दार्शनिक साहित्यमें इस परमाणुवादके जन्मदाता वैशेषिक दर्शनके आचार्य महर्षि कणाद हैं। वैशेषिक दर्शनके प्रमाणभूत भाष्यकार श्रीप्रशस्तपादाचार्यने इस परमाणुवादका स्वरूप बड़े सरल और सुन्दर रूपमें स्थापित किया है। उनके शब्द इस प्रकार हैं—

इहेदानीं चतुर्णां महाभूतानां सृष्टिसंहारविधिरुच्यते। ब्राह्मेण मानेन वर्षशतान्ते वर्तमानस्य ब्रह्मणो अपवर्गकाले संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि विश्रामार्थं सकलभुवनपते महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालं शरीरेन्द्रियमहाभूतोपनिबन्धकानां सर्वात्मगतानां अदृष्टानां वृत्तिनिरोधे सति महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः शरीरेन्द्रियकारणाणुविभागेभ्यः तत् संयोगनिवृत्तौ तेषां आपरमाण्वन्तो विनाशः। तथा पृथ्व्युदकज्वलनपवनानामपि महाभूतानां अनेनैव क्रमेण उत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य पूर्वस्य नाशः, ततः प्रविभक्ताः परमाणवो अवतिष्ठन्ते।

श्रीप्रशस्तपादाचार्यके विचारसे सृष्टिके प्रारम्भमें महेश्वर सम्पूर्ण जगत्के पितामह ब्रह्माको उत्पन्नकर संसार-संचालनका सारा भार उसको सौंप देते हैं। इन ब्रह्माकी आयु ब्राह्म परिणामसे सौ वर्षकी होती है। सौ वर्ष समाप्त हो जानेपर ब्रह्माका अपवर्ग-काल आ जाता है और उसके साथही सृष्टिकी आयु भी समाप्त हो जाती है। इस समय तक निरन्तर संस्करण-चक्रमें पड़े जीव भी बहुत खिन्न हो उठते हैं, इस लिए उनको विश्रामके लिए अवसर देनेकी आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है। इन सब कारणोंके एकत्र हो जानेसे इस अवसरपर महेश्वरके हृदयमें संसार-संहारकी इच्छा उत्पन्न होती है। उस संहारेच्छाके उत्पन्न होनेके साथ ही संसारी जीवोंके धर्माधर्मकी फलप्रदानकी शक्ति भी समाप्त हो जाती है, जिसके कारण संसारकी अगली

वृद्धि बिलकुल रुक जाती है। इधर अब तकके वर्तमान विश्वमें महेश्वरकी संहारेच्छा, जीवात्मा और अणुओंके संयोगविशेषसे उत्पन्न क्रियाके द्वारा, शरीर एवं इंद्रिय आदिके कारणरूप अणुओंमें परस्पर विभाग प्रारम्भ हो जाता है, जिसके परिणाममें इस संयुक्त विश्वके पूर्व संयोगका नाश हो जाता है। इस प्रकार क्रमिक विभाग होते होते अन्तमें 'प्रविभक्ताः परमाणवो अवतिष्ठन्ते'—एकदम अलग अलग परमाणु ही परमाणु रह जाते हैं।

इस प्रकार भारतवर्षके दार्शनिक साहित्यमें परमाणुवादकी उत्पत्ति हुई। यद्यपि सुदूर पूर्व और पश्चिममें स्वतंत्र रूपमें परमाणुवादकी सृष्टि हुई है, परन्तु उनमें कितना साम्य है! साधारण तौरसे पूर्व और पश्चिमके इस परमाणुवादमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। ऐसा मालूम होता है कि मानो एक ही दिमागसे दो विभिन्न स्थलोंपर उसकी अभिव्यक्ति हुई हो। परन्तु इतनी अधिक समानताके रहते हुए भी उन दोनोंमें एक बहुत बड़ी विषमता है। पश्चिमका परमाणुवाद अपनेमें ही समाप्त हो जाता है, उसे प्रकृति-निर्माणमें किसी और सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती; फिर भी उसमें एक बहुत बड़ी कमी है। परमाणुओंमें आदिम क्रियाका विकास कैसे हुआ, इसका उपपादन उसने नहीं किया। परमाणु जड़ पदार्थोंके अवयव हैं, उनमें सर्वथा निरपेक्ष स्वतः क्रियाकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, फिर आदि क्रियाका विकास कैसे हुआ, इसका कोई समुचित उत्तर देनेका सफल प्रयास परमाणुवादने नहीं किया। इसी कारण हम देखते हैं कि पाश्चात्य परमाणुवाद शीघ्र ही शिथिल पड़ गया है और उसके स्थानपर शक्तिवादका अभिषेक किया गया है।

शक्तिवाद

इस शक्तिवाद सिद्धान्तके अनुसार प्रकृतिका सार शक्ति Energy or Force है। परमाणुवादके अनुसार परमाणु वह परम सीमा थी, जिसके आगे किसी प्रकारका विभाग असम्भव था। परन्तु शक्तिवाद इससे एक कदम और आगे बढ़ गया है। इस सिद्धान्तमें वह परमाणु अनेक शक्तियोंके केन्द्र हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमारा सूर्य इस सौर-मंडलका। जिस प्रकार अनेक ग्रह, उपग्रह सूर्यके चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं, उसी प्रकार परमाणु अनेक शक्तियोंका केन्द्र है। अर्थात् इस सिद्धान्तमें प्रकृति शक्तिसे भिन्न कोई वस्तु नहीं, और न जैसा कि साधारणतः समझा जाता है, शक्ति परमाणुओंका कोई धर्म है। बल्कि परमाणु और प्रकृति स्वयं शक्तिरूप हैं। उस शक्ति-Energy or Force से भिन्न कोई अतिरिक्त वस्तु जगत्में नहीं है।

द्रव्य-नियम

अरनेस्ट हैकलने इस विश्व-व्याख्या करनेके लिए दूसरे नियमकी रचना की है, जिसका नाम उसने Law of Substance रखा है। हैकलके उसी नियमको हम द्रव्य-नियम शब्दसे निर्दिष्ट कर रहे हैं। हैकलका यह द्रव्य-नियम वस्तुतः कोई नया नियम या उसका अपना आविष्कार नहीं है, बल्कि उसकी रचना पुराने दो नियमोंके सम्मिश्रण कर देनेसे हुई है। इनमेंसे पहिला नियम रासायनिक विज्ञानका द्रव्याक्षरत्व-वादका है और दूसरा भौतिक विज्ञानका शक्ति-साम्यका सिद्धान्त है।

इनमेंसे द्रव्याक्षरत्ववादका स्थापन सन् १७८९ में Lavoisier नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिकनें किया था। संक्षेपमें इस सिद्धान्तका आशय

यह है कि इस अनन्त विश्वमें व्यापक प्रकृति या द्रव्यका परिमाण सदा समान रहता है, उसमें कभी न्यूनाधिक्य नहीं होता। न किसी वर्तमान द्रव्यका सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नूतन द्रव्यकी उत्पत्ति होती है। साधारण दृष्टिसे जिसे हम द्रव्यका नाश हो जाना समझते हैं वह उसका रूपान्तरमें परिणाम मात्र है। उदाहरणके लिए, कोयला जलकर राख हो जाता है, हम साधारणतः उसे नाश हो गया कहते हैं; परन्तु वह वस्तुतः नाश नहीं हुआ, वल्कि वायुमण्डलके ओषजन अंशके साथ मिलकर कारबोनिक एसिड गैसके रूपमें परिवर्तित होता है। इसी प्रकार शकर या नमकको यदि पानीमें घोल दिया जाय, तो वह उनका भी नाश नहीं वल्कि ठोससे द्रव रूपमें परिणति मात्र समझनी चाहिए। इसी प्रकार जहाँ कहीं किसी नवीन वस्तुको उत्पन्न होते देखते हैं, तो वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तुका रूपान्तर मात्र है। उस स्थलपर भी किसी नवीन द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती। वर्षाकी धारा आकाशमें मेघरूपमें विचरण करनेवाली वाष्पका रूपान्तर मात्र है। घरमें अव्यवस्थित रूपसे पड़ी रहनेवाली कड़ाही आदि लोहेकी वस्तुओंमें प्रायः ज़ंग लग जाता है, यह क्या है ? यहाँ भी ज़ंग नामक किसी नूतन द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं हुई है, अपि तु धातुकी ऊपरी सतह जल और वायुमण्डलके ओषजनके संयोगसे लोहेके ऑक्सी-हैड्रेट Oxy-hydrate के रूपमें परिणत हो गई है। इसीको हम ज़ंग कहते हैं। आज द्रव्याक्षरत्ववादका यह सिद्धान्त रासायनिक विज्ञानका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त समझा जाता है और तुलायंत्रद्वारा किसी भी समय उसकी सत्यताकी परीक्षा की जा सकती है।

लगभग इसी प्रकार और इसी शैलीपर शक्ति-साम्यके सिद्धान्तकी व्याख्या भी की जा सकती है। संसारके संचालनमें कार्य करनेवाली शक्ति, इनर्जी, या फोर्सका परिणाम सदा सम रहता है। उसमें किसी प्रकारका न्यूनाधिक्य नहीं होता। हाँ, परिणामवादका सिद्धान्त उसमें भी काम करता है, अर्थात् एक प्रकारकी शक्ति दूसरे प्रकारकी शक्तिके रूपमें परिणत अवश्य हो जाती है। उदाहरणके लिए, रेलका एंजिन जिस समय प्रशान्त रूपमें चलनेकी तैयारीमें स्टेशनपर खड़ा है, उस समय भी उसके भीतर शक्ति काम कर रही है, परन्तु इस समय वह शक्ति अन्तर्निहित गुप्त या अनभिव्यक्त है, इसको विज्ञानके शब्दोंमें Potential Energy पोटेन्शियल इनर्जी कहते हैं। फिर जिस समय वही एंजिन रेलकी पटरीपर अप्रतिहत गतिसे दौड़ लगाने लगता है, उस समय उसकी वही गुप्त अन्तर्निहित पोटेन्शियल इनर्जी Kinetic energy किनेटिक इनर्जी के रूपमें परिणत हो जाती है। इस प्रकारके अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे शक्ति-विवर्तवादका सिद्धान्त भली भाँति परिपुष्ट होता है। द्रव्याक्षरत्ववादकी भाँति ही आज शक्ति-साम्यका सिद्धान्त भौतिक विज्ञानमें आदर पा रहा है।

न केवल बहुपक्षकी दृष्टिसे बल्कि ऐतिहासिक दृष्टिसे भी यह सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। सन् १८३७ में सबसे पहले Bonn बॉनके प्रसिद्ध वैज्ञानिक Friedrich Mohr फ्रीडरिख मोहरके मस्तिष्कमें इस सिद्धान्तकी कल्पनाने जन्म लिया था, परन्तु फिर भी दुर्भाग्यवश उसके आविष्कारका श्रेय उसको प्राप्त न हो सका। अनेक वर्ष इस सिद्धान्तके परिपोषक विविध परीक्षणोंमें बिताकर जबतक निश्चित सिद्धान्तके रूपमें वह इसकी घोषणा करे, उसके पहले ही Robert Mayer राबर्ट मेयर-

ने अपनी ओरसे उसे अन्तिम रूपमें विघोषित कर दिया। इस प्रकार इस सिद्धान्तके आविष्कारका सेहरा राबर्ट मेयरके सिर ही रहा। यह सन् १८४२ की बात है। जिस प्रकार उपर्युक्त दोनों वैज्ञानिकोंके मस्तिष्कमें नितान्त निरपेक्ष रूपसे इस सिद्धान्तका आभास हुआ था, उसी प्रकार लगभग उसी समय Hermann Helm Haltz हर्मन हेल्म हाल्ट्ज़ नामक एक तीसरा वैज्ञानिक भी बिलकुल स्वतंत्र रूपसे उसी परिणामपर पहुँच चुका था। एक समयमें तीन विभिन्न वैज्ञानिक मस्तिष्कोंकी बिलकुल स्वतंत्र, नितान्त निरपेक्ष खोजने जिस एक ही सिद्धान्तका आविष्कार किया है, उसकी सत्यतामें किसको सन्देह हो सकता है? फिर आज तो न जाने कितने परीक्षणोंद्वारा उसकी परीक्षा हो चुकी है।

द्रव्याक्षरत्ववाद और शक्ति-साम्यके इन दोनों सिद्धान्तोंको मिलाकर ही हेकलने अपने द्रव्य-नियमकी रचना की है। उसके विचारानुसार इसी द्रव्य-नियमद्वारा स्वतंत्र रूपमें विश्वका विकास और विलय होता है, उसके लिए किसी अतिरिक्त चेतन-सत्ताकी आवश्यकता नहीं।

द्रव्याक्षरत्व और शक्ति-साम्यके इन दोनों नियमोंके निष्पादनमें जिस नीतिका आश्रय लिया गया है, लगभग उसी प्रकारसे भारतीय साहित्यमें सांख्यके सत्कार्यवादको जन्म मिला है। जिस प्रकार पाश्चात्य संसारमें भौतिक और रासायनिक विज्ञानवेत्ता किसी शक्ति या द्रव्यका क्षय या नवीन द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं मानते, इसी प्रकार सांख्याचार्योंके यहाँ भी

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

पहलेसे ही आकाश-पुष्पकी नाईं नितान्त असत् किसी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती और न किसी वर्तमान पदार्थका सर्वथा नाश ही होता है। जो तत्त्व आज विश्व-संचालनका कार्य कर रहे हैं वह सुदूर अतीतमें भी उसी परिमाणमें उपस्थित थे और अनन्त भविष्यमें भी इसी प्रकार स्थित रहेंगे। यह विविध विश्व उनके भीतर प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तन या परिणामसे विकसित या विलीन होता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके द्रव्याक्षरत्व और शक्ति-साम्यके स्थापनकी भाँति ही सांख्याचार्योंको अपने इस सत्कार्यवादके स्थापनमें अपरिमित शक्तिका उपयोग करना पड़ा है। बल्कि किसी अंशमें हम निश्चित भावसे यह कह सकते हैं कि सांख्याचार्योंका कार्य अपेक्षाकृत कहीं अधिक कठिन था। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंको उनके तुलायंत्रने बहुत सहायता दी है। सांख्याचार्यने भी 'गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्'के शब्दोंमें उस तुलायंत्रका आश्रय लिया अवश्य है, परंतु फिर भी उनका सर्वस्व उसीपर अवलम्बित नहीं है। वह उनकी अनेक युक्तियोंमेंसे केवल एक छोटी युक्ति है। इसके अतिरिक्त उससे भी कहीं अधिक मजबूत अन्य अनेक साधनोंका उपयोग कर उन्होंने सत्कार्यवादके विशाल भवनका निर्माण किया है, अब वह भवन प्रतिपक्षियोंके प्रबलतम आक्षेपों और आलोचनाओंको हँसते हँसते उपेक्षाके साथ देखता है। जैसे वह उसका कुछ विगाड़ ही नहीं सकते हैं। श्रीईश्वरकृष्णने अपनी सांख्य-कारिकामें और उससे भी अधिक सुन्दरताके साथ श्री वाचस्पति मिश्रने अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदीमें इस सत्कार्यवादका उपपादन किया है।

गुणवाद

इनके अतिरिक्त दार्शनिक जगत्में प्रकृतिका एक और स्वरूप उपलब्ध होता है जिसकी उत्पत्ति केवल पूर्वमें हुई है, और वह है सांख्याचार्योंका गुणवाद। सांख्याचार्योंके इस गुणवादके अनुसार सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणोंकी समष्टिका नाम प्रकृति है। इस स्थलपर प्रयुक्त हुआ गुण शब्द बहुधा भ्रामक हो जाता है, क्योंकि यहाँ वह अपने साधारण अर्थमें नहीं अपि तु विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। लौकिक भाषामें किसी द्रव्यके भीतर पाये जानेवाले किसी विशेष धर्मके लिए गुण शब्दका प्रयोग होता है। महर्षि कणादने भी गुणका लक्षण करते हुए उसे द्रव्याश्रयी धर्म ही बतलाया है, परन्तु सांख्यके गुणवादका गुण शब्द उससे भिन्न है। सत्त्व, रज और तम किसी पदार्थके धर्म नहीं, हाँ किसी रूपमें उनको शक्ति कहा जा सकता है। जिस प्रकार उपरिलिखित शक्तिवादके सिद्धान्तमें परमाणु अनेक शक्तियोंका केन्द्र माना जाता है परन्तु वह कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो शक्तिसे भिन्न हो या जिसे शक्तिका आधार कहा जा सके, इसी प्रकार प्रकृति सत्त्व, रज और तमकी समष्टिका नाम है। उनसे भिन्न वह कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसे उन गुणोंका आश्रय कहा जा सके। यहाँ गुण शब्द गौण वृत्तिसे अपने अर्थका बोधन करता है।

प्रकृतिरूप समष्टिके भीतर कार्य करनेवाली यह तीनों व्यष्टियाँ गुणोंके भिन्न भिन्न कार्य हैं जिनका संग्रह सांख्यकारिकाके लेखकने इस प्रकार किया है—

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टं, उपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरुवरणकमेव तमः।

अर्थात् मूल प्रकृतिके भीतर काम करनेवाले इन गुणोंमेंसे प्रत्येकके दो दो कार्य हैं। सांख्याचार्योंके मतमें सत्त्वगुण लाघव और प्रकाशसे युक्त है, रजोगुण उपष्टम्भक एवं चल है, और तमोगुण गुरु एवं आवरण करनेवाला है। अभी सम्भवतः कारिकामें प्रयुक्त शब्दोंके स्पष्टीकरणके लिए कुछ पंक्तियोंकी अपेक्षा है।

लाघवका अर्थ है हलकापन, जिसके कारण पदार्थ ऊपरको उठते हैं। प्रकाशके कारण पदार्थ अभिव्यक्त होते हैं। उपष्टम्भक शब्दका अर्थ है उत्साह देनेवाला, उत्तेजना देनेवाला। सत्त्व और तमको यही रजोगुण कार्यमें प्रवृत्त करता है, और स्वयं भी चल या गतिशील है। तमोगुणका धर्म गौरव, बोझीलापन है, और उसके साथ ही वह आवरक है। आवरक शब्दके भीतर गतिको रोकनेका भाव भी अन्तर्निहित है। इस प्रकार यह तीनों गुण एक समष्टिमें भिन्न भिन्न प्रयोजन-सम्पादनके लिए समाविष्ट हैं। परन्तु एक प्रश्न यह रह जाता है कि इन तीनोंके ऊपर जिन कार्योंका उत्तरदायित्व है, वह परस्पर अत्यन्त विपरीत हैं। इतने अधिक विरोधी गुण परस्पर कैसे मिल सकते हैं और उनका एक समष्टिमें मिलकर कार्य कर सकना कहाँ तक सम्भव है? हमारे सांख्याचार्यने इस प्रश्नको अछूता ही नहीं छोड़ दिया है, अपि तु उसके उपपादनका यत्न सफलताके साथ किया है। इस प्रश्नके उत्तरमें उपर्युक्त कारिकाका चौथा चरण लिखा गया है—

प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।

जिस प्रकार दीपकके भीतर रुई, आग और तैल तीनों विरोधी और भिन्न-प्रकृतिकी वस्तुयें मिलकर कार्य करतीं दृष्टिगोचर होती हैं,

इसी प्रकार तीनों भिन्न भिन्न वृत्तिवाले गुण परस्परविरुद्ध होते हुए भी एक समष्टिमें सम्मिलित हो सकते हैं। इन तीनोंकी यह समष्टि या प्रकृति ही संसारका संचालन कर रही है और जहाँ जैसी आवश्यकता होती है उसीके अनुसार कार्य करती है। जिस प्रकार एक ही स्त्री अपने पतिको सुखका कारण, अपनी सपत्नियोंको दुःखका कारण और किसी तीसरेके लिए मोहका कारण भी हो सकती है, इसी प्रकार तीनों गुणोंकी यह समष्टि प्रकृति भी अकेली होकर भिन्न प्रकारके कार्योंका संचालन कर रही है। रासायनिक वैज्ञानिकोंके अनुसार परमाणुओंके भीतर रासायनिक प्रीति और रासायनिक अप्रीति दोनों धर्म हैं; परन्तु कार्यके समय उनमें विरोधकी प्रतीति नहीं होती। जहाँ रासायनिक प्रीतिका प्रयोजन होता है वहाँ यही काम देती है, रासायनिक अप्रीति उसके कार्यमें किसी प्रकारकी वाधा नहीं डालती। इसी प्रकार रासायनिक अप्रीतिके कार्यमें रासायनिक प्रीति प्रतिबन्धक नहीं होती। रासायनिक विज्ञानके इसी नियमके समान सांख्याचार्योंकी परस्परविरोधी गुणोंकी समष्टिरूप प्रकृति भी संसार-संचालनमें सर्वथा समर्थ समझी जा सकती है। गुणवादी सांख्याचार्योंकी कलमसे यह उपपादन वड़ा सुन्दर हुआ है, इसमें किसी आक्षेपका अवकाश नहीं है।

तृतीय परिच्छेद

पिछले परिच्छेदमें हमने प्रकृतिके स्वरूप-निरूपणके सम्बन्धमें प्रचलित प्रधान प्रधान मतोंके संग्रह करनेका प्रयास किया था। इस प्रकार प्रकृति-स्वरूपका निर्धारण हो जानेके बाद अब एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि उस प्रकृतिसे विकृति या जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई? इस सम्बन्धमें विचारकोंमें बहुत कुछ मतभेद है। अनेक भिन्न भिन्न प्रकारके मत इस सृष्टि-निर्माणके विषयमें प्रचलित हैं। परन्तु यदि हम चाहें तो संक्षेपमें उन्हें दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। इनमेंसे एक भागको उत्पत्तिवाद और दूसरेको विकास-वाद नामसे बोधित किया जा सकता है।

उत्पत्तिवाद

उत्पत्तिवादका सारांश यह है कि वर्तमान दृश्य-जगत्के अंग-उपांगरूप जितने प्राणी या प्राकृतिक पदार्थ पाये जाते हैं उन सबको परमात्माने सृष्टिके प्रारम्भमें ही इसी रूपमें रचा था, अर्थात् संसारके प्राणियोंकी विविध जातियों और अन्य प्राकृतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति साक्षात् परमात्मासे हुई है। इस उत्पत्तिवादके भी दो अवान्तर भाग हैं। पहले विचारके अनुसार साधन-निरपेक्ष केवल परमात्मासे जगत्की उत्पत्ति हुई है और दूसरे विचारके अनुसार सृष्टिकी रचनासे पहले परमात्माकी ही भाँति जीव और प्रकृति दो नित्य पदार्थ और उपस्थित थे, जिन्होंने जगत्के निर्माणमें परमात्माका हाथ बटाया

है, अर्थात् प्रकृतिके द्वारा ही परमात्माने सृष्टिका निर्माण किया है। इनमेंसे पहला मत दार्शनिक दृष्टिसे कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता, फिर भी बहुत लम्बे चौड़े समय तक संसारमें उसका साम्राज्य रहा है और विशेषतः धार्मिक जगत्में उसे अपनाया गया है। इस मतके प्रधान समर्थकोंमें बाइबिल और कुरानके नाम लिये जा सकते हैं। बाइबिल और कुरानके उत्पत्तिवादका आशय यह है कि साधन-निरपेक्ष स्वयं ईश्वरने स्वतंत्र रूपसे जगत्का निर्माण किया है। हम उनके विचारोंका संग्रह सक्षेपमें इस प्रकार कर सकते हैं—

इस उत्पत्तिवादके अनुसार सुदूर अतीतमें एक समय ऐसा था जब कि न तो संसारके किसी प्राणीकी ही कोई सत्ता थी और न इस दृश्यमान् जगत्का ही कुछ अस्तित्व था। उस समय था तो केवल एक अनादि अनन्त ईश्वर। यह ईश्वर अपनेमें पूर्ण था, उसे स्वयं किसी प्रकारकी कोई आवश्यकता न थी। फिर भी उसने एक विशेष अवसरपर सृष्टि-रचनाका विचार किया। इस समय भी उसके पास संसारकी रचनाके लिए कोई उपादान न था। परन्तु हाँ, वह सर्व शक्तिमान् था, उसकी इच्छामें शक्ति थी, उसकी आज्ञामें बल था, केवल मुखसे कहने भरकी देर थी कि कहनेके साथ ही एकदम अभावसे, शून्य-तत्त्वसे या स्वयं अपने भीतरसे इस दृश्यमान् जगत्की सृष्टि हो गई। साधारणतः इस मतको कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। एक लम्बे अवसर तक मानव-हृदयपर शासन करनेके बाद अब इस वैज्ञानिक युगमें उसका कुछ मूल्य शेष नहीं रह गया है, विज्ञानके प्रत्येक विभागने बुरी तरह उसकी छीछालेदर की है। या इस सिद्धान्तकी नींव ही वस्तुतः इतनी कच्ची है कि वह तर्कके एक हलकेसे

झोंकेको भी सहन नहीं कर सकती है। तीसरी बात यह है कि यह मत आवश्यकतासे अधिक Anthropomorphic हो गया है। परमात्मा कहता है—उजाला हो और उजाला हो गया, परमात्माने कहा—आकाश बने और आकाश बन गया, मानो कोई बाजीगर खड़ा होकर बजरबट्टूके खेल दिखा रहा हो। ६ दिन तक निरन्तर इसी प्रकार बाजीगरीके खेल होते रहे, कभी ज़मीन बनी तो कभी आकाश बना, कभी घोड़ा बना तो कभी ऊँट बन गया, कभी शेर बना तो कभी ऊदबिलाव बन गया। हाँ, उसके बाद छठे दिन आज्ञा हुई कि मेरी एक दूसरी प्रतिमूर्त्ति तैयार हो, हुक्मकी देर थी कि हज़रत आदमके रूपमें खुदाकी दूसरी प्रतिमूर्त्ति तैयार हो गई। अन्तर केवल इतना था कि खुदा चेतन था और वह मूर्त्ति जड़ थी। परन्तु परमात्माका ध्यान तत्काल उस कमीकी ओर आकृष्ट हुआ, उसने बनी बनाई मूर्त्तिके पास जाकर फूँक मारी फुह, मूर्त्ति सिरसे पैर तक सिहर उठी। उसके भीतर जीवनी शक्तिका संचार हो गया। इसीको कहते हैं कि खुदाने रूह फूँक दी। अब हूबहू दूसरा परमात्मा तैयार हो गया। परन्तु ६ दिन तक निरन्तर इस प्रकार काममें संलग्न रहनेके कारण परमात्माको इतना परिश्रम पड़ा कि उसकी सारी देह थकावटके मारे चूर चूर हो गई, उसे विश्रामकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी लिए विवश होकर इस बलाको नये खुदा हज़रत आदमको सौंपकर सातवें दिन रविवारको आपने विश्राम किया। खुदाने हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि सबकी सृष्टि कर डाली थी; परन्तु अब तक उनका नामकरण न हुआ था। इस कार्यके लिए परमात्मा उन सबको बनाकर हज़रत आदमके पास लाया, मानों

दो चार छोटे छोटे मिट्टीके खिलौने हों। अब हज़रत आदमने उन सबका नामकरण संस्कार किया—तेरा नाम ऊँट है, तेरा नाम ऊदबिलाव। इस प्रकार कुरान और बाइबिलका उत्पत्तिवाद आदिसे अन्त तक एकदम बाजीगरीका सा तमाशा बन गया है और उनका परमात्मा हमारीसी सूरत-मूरतवाला एक विशेष प्राणी है।

इस उत्पत्तिवादने बहुत दिन तक सरल मानव-हृदयोंके ऊपर शासन किया है परन्तु इस तर्क और विज्ञानके युगमें उसका दिवाला-सा निकल गया, शताब्दियोंका खड़ा उत्पत्तिवादका यह विशाल भवन वैज्ञानिक युगके प्रबल झोंकेसे धड़धड़ाहटके साथ एकदम गिर पड़ा और धूलिसात् हो गया। उत्पत्तिवादका दूसरा भाग जिसे हम सापेक्ष-उत्पत्तिवाद कह आये हैं वह इसकी अपेक्षा अधिक परिपुष्ट है, हम उसे वैदिक सृष्टि-प्रक्रियाका एक अंश कह सकते हैं।

विकासवाद

पश्चिममें उत्पतिवादकी नींव उसी समय हिल चुकी थी जब कि वैज्ञानिक युगका आरम्भ हुआ था। बादमें क्रमशः वैज्ञानिक अन्वेषणों-की ओर विद्वानोंकी रुचि बढ़ती गई और उसके साथ ही विज्ञान-विरुद्ध बाजीगरीके तमाशोंकी सत्यताके ऊपरसे उनका विश्वास उठता चला गया। भूगर्भविद्या आदि विज्ञानकी समग्र शाखाएँ एक मतसे इस परिणामपर पहुँची हैं कि यह सृष्टि केवल ६ दिनकी रचना नहीं है, अपि तु उसके बननेमें सहस्रों वर्ष व्यय हुए हैं। वह प्रारम्भमें एक साधारण अवस्थासे विकसित होते हुए इस वर्तमान अवस्थाको प्राप्त हुई है। उसकी एक साथ उत्पत्ति नहीं अपि तु क्रमशः विकास हुआ है। यही विकासवादका मौलिक सारांश है।

विकासवादके इस मौलिक आधारके सम्बन्धमें हमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं; परन्तु फिर भी सृष्टिकी सारी समस्या तो इतनेहीसे हल नहीं हो जाती, उसके लिए विकासवादकी कुछ विशेष व्याख्याकी आवश्यकता है। परन्तु इस विशेष व्याख्याकी ओर कदम बढ़ाते ही विकास-क्रममें मतभेदका विकास होने लगता है। विकासवादकी प्रक्रिया क्या है और वह किस प्रकार प्रारम्भ होता है, इस प्रश्नका उत्तर अनेक प्रकारसे दिया जाता है और यहींसे विकासवादमें शाखाभेदका प्रारम्भ होता है। कुछ लोगोंके विचारमें यह विकास सर्वथा स्वतंत्ररूपसे स्वयं हो रहा है, उसके लिए किसी दिमाग़ या विचारशील शक्तिकी आवश्यकता नहीं है। अपने इस विचारके समर्थनमें वह लोग यंत्रीय प्रक्रियाका उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार कोई यंत्र या मशीन बिना किसी अन्य सत्ताके हस्तक्षेपके स्वयमेव अनवरत रूपसे चलती रहती है, इसी प्रकार यंत्रीय शैलीपर जगत्का विकास भी निरपेक्ष रूपसे स्वतः हो रहा है, उसका संचालन किसी चेतन सत्ताके अधीन नहीं है। विकास-प्रक्रियाके इस स्वरूपके समर्थनमें सारा नास्तिक दर्शन एकमत है। यद्यपि उनमें नाम मात्रको कुछ भेद कहा जा सकता है; परन्तु वस्तुतः उस मतभेदका विशेष मूल्य नहीं है।

विकासवादके दूसरे व्याख्याकारोंके विचारोंका संग्रह सक्षेपमें आस्तिक विकासवादके रूपमें हो सकता है। इनके अनुसार यह विकास स्वतंत्र रूपसे नहीं हो रहा है अपि तु उसके पीछें ईश्वर नामक एक चेतन सत्ताका हाथ है, और उसीके प्रारम्भिक ईक्षण-द्वारा या प्रतिक्षण वर्त्तमान नियंत्रणमें विकास-प्रक्रियाका संचालन हो रहा है। इस प्रकार मुख्यतः विकासवादके भी दो भेद हो गये,

एक निरपेक्ष विकास और दूसरा सापेक्ष विकास, अथवा एक निरीश्वर विकास और दूसरा सेश्वर विकास। निरपेक्ष विकासके अवान्तर भागों-की भाँति सापेक्ष विकासके भी अवान्तर भेद हैं, जिनमें मुख्य मतभेद यह है कि एक विचारकोंकी दृष्टिसे विकासवादकी प्रक्रियाके प्रारम्भमें केवल एक बार उस चेतन सत्ताके ईक्षणकी आवश्यकता पड़ती है, उसके बाद चलती हुई मशीनकी भाँति ही व्यवस्थित नियमोंके द्वारा स्वयं उसका संचालन होता रहता है। दूसरे लोगोंके विचारसे इस विकास-प्रक्रियाको प्रतिक्षण एक संचालककी आवश्यकता है और बिना उसकी इच्छा या आज्ञाके

पत्ता तक हिलता नहीं, खिले न कोई फूल।

इस प्रकार प्रकृतिसे विकृति या जगत्-निर्माणके सम्बन्धमें साधारणतः निम्न मुख्य मुख्य मत पाये जाते हैं—

१ सापेक्ष उत्पत्तिवाद
२ निरपेक्ष उत्पत्तिवाद
३ सेश्वर विकासवाद
४ निरीश्वर विकासवाद
५ सेश्वर विकासवाद नं० २

आगेकी पंक्तियोंमें हम देखनेका यत्न करेंगे कि इनमेंसे कौन-सी प्रक्रिया हमारी विचारशक्ति और हृदयको सन्तुष्ट करती है।

चतुर्थ परिच्छेद

पिछले परिच्छेदमें हम कह चुके हैं कि निरपेक्ष विकास-सिद्धान्त-के अनुसार विश्वका विकास बिलकुल स्वतंत्र रूपसे यंत्रीय शैलीपर होता है, उसके पीछे किसी विचार, उद्देश या चेतन सत्ताका हाथ नहीं रहता। पाश्चात्य दार्शनिक जगत्में इस प्रकारके विकासक्रमके समर्थक टिंडाल Tyndall, हक्सले Huxley, स्पेन्सर Spencer आदि समझे जाते हैं। यद्यपि नास्तिकवादके इस प्रवल प्रवाहमें वहने वाले सभी दार्शनिकोंने इस सिद्धान्तको अपनाया है और उसकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है; परन्तु स्पेन्सरकी सिन्थेटिक फ़िलासफ़ी Synthetic Philosophy में उसका विकास या चित्रण सवसे अधिक सुन्दर, आकर्षक और स्फुट रूपमें हुआ है। सिन्थेटिक फ़िलासफ़ीसे हमारा आशय स्पेन्सरकी उस ग्रन्थमालासे है जिसकी रचना उसने प्राथमिक अवस्थासे अन्तिम अवस्थातकका विकास-क्रम दिखानेके उद्देशसे की थी। इस ग्रन्थमालाके भीतर उसके पाँच ग्रन्थ सम्मिलित हैं—

1 First Principles and Essays.
2 Principles of Biology.
3 Principles of Psychology.
4 Principles of Sociology,
5 Principles of Ethics.

इन पाँचों पुस्तकोंके सम्मिलित सिद्धान्तोंपर जिन विचारोंकी प्राणप्रतिष्ठा की गई है, उन्हें ही स्पेन्सरकी सिन्थेटिक फ़िलासफ़ीके नामसे कहा जाता है। निरीश्वर या निरपेक्ष विकास-सिद्धान्तको सबसे अधिक पूर्णताके साथ और सबसे अधिक सुन्दर एवं आकर्षक रूपमें चित्रित करनेका श्रेय स्पेन्सरकी इस पुस्तकमालाको ही प्राप्त हुआ है। इन पुस्तकोंद्वारा उसने प्रारम्भिक नेबुलासे लेकर मानव-जीवनके उच्चतम आचारसम्बन्धी सिद्धान्तोंका विकास क्रमबद्ध रूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयास किया है।

स्पेन्सरके उस सारे विवेचनके मूल आधार वह ही प्राकृतिक नियम हैं, जिनकी स्थापना नैतिक विज्ञानने की है। उन्हींके द्वारा उसने अपनी सारी विकासप्रक्रियाका संचालन किया है। इस दृश्यमान् जगत् या अपने सौरमंडलके विकासके उपपादनके लिए उसने लाप्लासके नैबुलावाले सिद्धान्तको अपनाया है, और उसी नैबुलर शैलीसे इस भौतिक जगत्का विकास दिखाया है। सिन्थेटिक फ़िलासफ़ीकी सबसे पहली पुस्तक First Principles & Essays का प्रतिपाद्य विषय यही है। इस प्रकार भौतिक जगत्की उत्पत्तिके बाद उसमें विविध प्राणियोंका विकास कैसे हुआ, इसकी विशद व्याख्या स्पेन्सरने अपनी दूसरी पुस्तक Principles of Biology में की है। जीवन-विकासकी इस प्रक्रियामें उसे लेमार्क और डार्विनके प्राकृतिक निर्वाचन आदि सम्बन्धी नियमोंको स्वीकार करना पड़ा है। उसके बाद अपनी तीसरी पुस्तक Principles of Psychology में उसने प्राणि-जगत्के होनेवाले क्रमिक मनोविकासका प्रतिपादन किया है और चौथी पुस्तक Principles of Sociology में सामाजिक

व्यवस्थाका प्रश्न उठाकर उसके क्रमिक विकासकी विशद विवेचना की गई है। अन्ततः अपनी पाँचवीं और अन्तिम पुस्तक Principles of Ethics के लिए उसने मानव-जीवनके सर्वोत्तम भाग आचारशास्त्रको चुना है। इस प्रकार स्पेन्सरकी इन पाँचों पुस्तकोंसे विकास-सिद्धान्त पूर्णरूपसे स्पष्ट हो जाता है और अपनी आदिम अवस्थासे क्रमशः विकसित होते होते जगत् किस प्रकार वर्तमान अवस्था तक पहुँचा, इसका परिज्ञान पाठकको भली भाँति हो जाता है। स्पेन्सरकी इस सारी विवेचनाके सम्बन्धमें दो बातें विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य हैं—

१ अन्य नास्तिक दार्शनिकोंकी भाँति स्पेन्सरने भी आदिसे अन्त तक सारे विकासको नितान्त निरपेक्ष रूपसे माना है, उसके पीछे विकास संचालन करनेवाली किस चेतन सत्ताकी आवश्यकता या उपयोगिता उसे प्रतीत नहीं हुई।

२ स्पेन्सरके विचारानुसार यह विकास-प्रक्रिया अनवरत रूपसे चली जा रही है, इसलिए जड़ और चेतन जगत्के बीच, जीवन और विचार शक्तिके बीच, अथवा पशु-मस्तिष्क और मानव-मस्तिष्कके बीच कोई अन्तर नहीं छूटा है, जिसकी पूर्तिके लिए विशेष प्रयत्नका प्रयोजन हो।

अभी विकास-सिद्धान्तके स्पष्टीकरणके लिए बहुत कुछ लिखे जानेकी आवश्यकता है, इस लिए अगली पंक्तियोंमें जड़-जगत् और चेतन-जगत्का विकास, उत्क्रान्तिवाद या विकासवादके अनुसार स्फुटतर रूपसे पृथक् पृथक् निरूपण करनेका प्रयास करेंगे और उसके बाद दोनोंपर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे।

विश्व-विकास

विश्व-विकाससम्बन्धी इस सिद्धान्तके स्पष्टीकरणसे पहले यह बात ध्यानमें रख लेनी चाहिए कि विश्व-विकासकी समस्याको हल करते समय हैकल, हक्सले और स्पेन्सर आदि पाश्चात्य दार्शनिक अपने इस सौर-मंडलसे आगे नहीं जाते हैं। उनका प्रधान लक्ष्य इस सौर-मंडलका, जिससे हमारी और उनकी इस पृथिवीका सम्बन्ध है, विकास दिखा देना मात्र है, इसके अतिरिक्त विश्वके अन्य सौर-मंडलोंकी उत्पत्ति आदिके विषयमें कोई विशेष विवेचना न करके वे हमसे आशा करते हैं कि इसी सौर-मंडलकी नाईं अन्य सौर-मंडलोंके विकासकी कल्पना हम स्वयं कर सकेंगे। अस्तु।

हमने ऊपर लिखा था कि विश्व-विकासका विवेचन करते समय हैकल, हक्सले और स्पेन्सर आदिने लाप्लासकी नैबुलावाली कल्पनाको अपनाया है, और उसीके आधारपर अपने सारे भवनकी स्थापना की है। लाप्लासकी इस नैबुलासम्बन्धी कल्पना और विश्व-विकासके सम्बन्धमें पाश्चात्य विद्वानोंके विचारोंका सार यह है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें हमारा सौर-मंडल एक था, अर्थात् उस समय तक चन्द्रमा और पृथिवी आदि अन्य ग्रह-उपग्रहोंकी सृष्टि नहीं हुई थी। उस समय यह सारा सौर-मंडल जो आज भिन्न भिन्न भागोंमें विभक्त हो रहा है, गोलाकार प्रकाशमान् गैसका एक पिंड था। इस गोल पिंडको ही लाप्लास नैबुला शब्दसे कहता है। उस समय इस नैबुलाके भीतर बड़ी तीव्र गति हो रही थी। शनैः शनैः कालक्रमके परिवर्तनके साथ ही साथ इस आदिम नैबुला-पिंडकी परिस्थितिमें भी परिवर्तन होने लगा, नैबुलाका वह वायवीय गैसीय

स्वरूप क्रमशः शैत्य-संयोगसे द्रव और ठोसरूपमें परिवर्तित होने लगा। इसी समय उस एक पिंडसे विभक्त हो अनेक ग्रह-उपग्रहोंका आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार, यदि गीली मिट्टीको गोफनमें रखकर ज़ोरसे घुमाया जाय तो उसके बहुतसे छोटे छोटे कण निकलकर बाहर चारों ओर फैल जाते हैं, इसी प्रकार अत्यन्त वेगसे भ्रमण करनेवाले इस नैबुला-पिंडके अनेक छोटे छोटे अंश उससे अलग हो गये; परंतु अलग हो जानेपर भी उन छोटे अंशोंकी गति ज्योंकी त्यों स्थिर रही और अपने केन्द्रीय नैबुलाकी भाँति यह छोटे अंश भी बराबर उसी प्रकार गतिमान् बने रहे। दूसरी ओर क्रमिक शैत्यकी वृद्धिसे केन्द्रीय नैबुला और उससे छितराये हुए अन्य छोटे अंशोंमें जमाव प्रारम्भ हो गया, इस प्रकार उन छितराये हुए पिंडोंसे अनेक ग्रह-उपग्रहोंकी सृष्टि हुई और बीचके केन्द्रीय नैबुलाने सूर्यका रूप धारण किया। संक्षेपमें हमारी पृथ्वी और हमारे सौर-मण्डलकी उत्पत्तिकी यही कहानी है, जिसकी कल्पना लाप्लास आदि पाश्चात्य विद्वानोंके मस्तिष्कसे हुई है। लाप्लास आदिकी इस विकास-प्रक्रियाके सम्बन्धमें हमें निम्न बातोंका विशेष रूपसे ध्यान रखना चाहिए, वह हमें इस विकास-क्रमकी सापेक्षता और निरपेक्षताके निर्णयमें सहायता दे सकेंगी।

१—वह विकास-प्रक्रियाकी प्रारम्भिक अवस्था, द्रव्य और शक्तिकी सत्ता स्वीकार करते हैं जिनसे कि उनके अभीष्ट नैबुलाकी रचना हुई।

२. इस द्रव्य और शक्तिके नियंत्रण करनेवाले नियमोंकी सत्ता भी वह स्वीकार करते हैं। नैबुलाके आदिम समुच्चयपर भी उन्हें कोई आपत्ति न करनी चाहिए।

३ अन्य सौर-मंडलोंके विकासका ध्यान रखते हुए इस बातको भी वह स्वीकार करेंगे कि उस आदिम द्रव्य और शक्तिसे इस प्रकारके अनेक नेबुला उत्पन्न हुए होंगे।

४ पृथ्वी आदि ग्रह-उपग्रहोंको वह उसी नैबुलके टुकड़े बतलाते हैं, जो अत्यन्त वेगसे घूमते समय उससे निकलकर अलग हो गये थे। अपने परम्परागत अभ्यासके कारण उनमें बराबर गति होती है।

५ अन्तिम और सबसे मुख्य बात यह है कि यह सारा कार्य बिना किसी विचारशील शक्तिके संचालनके, केवल जड़ प्रकृतिके अन्ध परिणामसे स्वयं हो रहा है।

इस सिद्धान्तके जन्मदाता लाप्लासके सम्बन्धमें कहा जाता है कि उसने अपनी पुस्तकको लिखकर नेपोलियनको समर्पण करना चाहा, उस समय नेपोलियनने उससे पूछा कि लाप्लास, लोग कहते हैं कि तुमने इतनी बड़ी पुस्तक विश्व-निर्माणके सम्बन्धमें लिखी; परन्तु सारी पुस्तकमें कहीं एक बार भी उसके निर्माताका उल्लेख नहीं किया? इसके उत्तरमें लाप्लासने स्पष्ट शब्दोंमें उत्तर दिया कि मुझे इस प्रकारकी किसी निरर्थक और अनावश्यक कल्पना करनेका प्रयोजन ही दिखाई न दिया।

सजीव उत्क्रान्ति

इस प्रकर चेतनाधिष्ठानके बिना ही, नैबुलासे इस सौर-मंडल और उसके साथ ही हमारी पृथ्वीका निर्माण हो जानेके बाद सजीव उत्क्रान्तिका प्रश्न रह जाता है, अर्थात् संसारमें विचरण करनेवाले विविध प्राणियोंकी उत्पत्ति कैसे हुई। आस्तिक विचारकोंने प्रायः उत्पत्तिवाद या इसी प्रकारकी पद्धतिका आश्रय लेकर परमेश्वरद्वारा

उनके निर्माणकी व्यवस्था दी; परन्तु नास्तिक विचारक तो ईश्वर जैसी किसी चेतन सत्ताको कब स्वीकार कर सकते थे ? उन्होंने इस सजीव उत्क्रान्तिके लिए भी विकासवादका आश्रय लिया । जिस प्रकार जड़-जगत् आदिम नैबुलाकी स्थितिसे परिमार्जित और क्रमशः विकसित होते होते अपनी वर्तमान अवस्थाको प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार चेतन-जगत् एक-घटकवाले आदिम क्षुद्र प्राणी अमीबासे क्रमशः विकसित होते होते मानव-समाजकी उच्च अवस्था तक पहुँचा है। अमीबा सजीव उत्क्रान्तिका आदिम रूप है और मनुष्य उसकी अन्तिम अवधि । इस बीचके क्रमिक विकासका ही परिणाम संसारके अन्य विविध प्राणियोंकी श्रेणियाँ हैं । प्राणियोंकी यह विविध श्रेणियाँ किस क्रमसे और किस किस समय उत्पन्न या विकसित हुईं, इन सबका विस्तृत निरूपण डार्विनके Origin of the Species और Descent of Man नामक ग्रन्थोंमें किया गया है। हम यहाँ उस सारे विकास-क्रमको प्रस्तुत न कर केवल उन मौलिक सिद्धान्तोंका उल्लेख करेंगे जिनके आधारपर विकास-प्रक्रिया-का संचालन हो रहा है । विकास-प्रक्रियाका नियंत्रण करनेवाले इन मौलिक नियमोंके विषयमें पाश्चात्य विद्वानोंमें मुख्यतः दो प्रकारके विचार प्रचलित रहे हैं, एक डार्विनका आकस्मिकभेदवाद और दूसरा लेमार्कका परिस्थितिवाद । परन्तु अन्तिम समयमें स्वयं डार्विनने भी लेमार्कके परिस्थितिवादको अपना लिया है, जिसका प्रमाण उसके अन्तिम ग्रन्थोंमें पदे पदे मिलता है ।

जीवन-विकासके सम्बन्धमें डार्विन और लेमार्कके विवरणोंसे इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न जातियोंके प्राणियोंके विकासपर बहुत कुछ

प्रकाश पड़ता है, परन्तु वस्तुतः जीवनका प्रारम्भ कैसे हुआ—चेतन-जगत्में चेतनाकी उत्पत्ति कहाँसे हो गई—इस प्रश्नका कोई सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिलता। फिर भी इस प्रश्नको आगे आलोच-नाके लिए छोड़कर इस समय डार्विन और लेमार्कके अनुसार संसारमें विविध जातिके प्राणियोंकी उत्पत्ति कैसे हुई, यही देखनेका यत्न करेंगे।

विकास-सिद्धान्तके अनुसार संसारके सारे प्राणियोंकी उत्पत्तिका मूल कलल-रसके कीटाणु समझे जाते हैं। अनन्त पीढ़ियों और अनन्त कालके बाद उन्हीं कीटाणुओंसे क्रमशः परिवर्तित होते होते मछली, मेंढ़क, हाथी, घोड़ा, वन्दर आदिकी उत्पत्ति हुई है। स्वयं मनुष्य भी अपने पूर्वज वन्दरोंका एक संशोधित संस्करण है और इस विकास-सिद्धान्तके अनुसार उसके आदि मूल भी कलल-रसके वही कीटाणु हैं। इन कीटाणुओंकी कुछ विशेपताएँ हैं, इन्हीं विशेषताओंके कारण उन विविध प्राणियोंका विकास सम्भव हो सका है। इन विशे-पताओंका दिग्दर्शन संक्षेपमें करा देनेसे इस विषयका स्पष्टीकरण बहुत सरलतासे हो जायगा।

१—यह कीटाणु स्वयं विभागद्वारा अपनी संख्यावृद्धि करते हैं, अर्थात् एक कीटाणु स्वतः विभक्त होकर दो वन जाता है, इसी प्रकार दोसे चार और चारसे आठ वनते जाते हैं और इस प्रकार इनकी संख्यावृद्धि होती है।

२—इनमें आकस्मिक रूपसे स्वतः परिवर्तन होता रहता है। इसलिए कभी कोई दो कीटाणु विलकुल समान पैदा नहीं होते, बल्कि जितने भी कीटाणु पैदा होते हैं सब एक दूसरेसे भिन्न होते हैं।

३—इन कीटाणुओंकी तीसरी विशेषता यह है कि वह अपने भीतर उत्पन्न होनेवाले इन आकस्मिक परिवर्तनोंको अपनी सन्ततिमें संक्रान्त करते रहते हैं।

कीटाणुओंकी इन्हीं विशेषताओंके ऊपर प्राणि-जगत्की उत्पत्ति, वृद्धि, साम्य और वैषम्य सब कुछ निर्भर है। एक कीटाणुसे पैदा होनेवाले दूसरे कीटाणुमें कुछ तो उसकी पैत्रिक विशेषताएँ संक्रान्त होती हैं और कुछ नवीन विशेषताएँ उसमें स्वयं उत्पन्न हो जाती हैं, इस प्रकार वह एक अंशमें अपने पूर्ववर्ती कीटाणुके समान होता है तो दूसरे अंशमें उससे भिन्न। इसी क्रमसे इस विविध प्राणि-जगत्का विकास हुआ है और होता है।

डार्विनका आकस्मिक-भेदवाद

इस प्रकरणमें डार्विनके Survival of the Fittest और Natural Selection के सिद्धान्त भी विशेष महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य हैं। संसारके इस समग्र प्राणि-जगत्में जीवनस्थितिके लिए एक भीषण प्रतिद्वन्द्विता चल रही है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मानव-समाजमें आये दिन व्यापारके लिए राजसत्ताके और सम्मानके लिए भयानक जद्दो-जहद हो रही है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिकी, एक देश दूसरे देशकी और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रकी बढ़ती नहीं देख सकता, उसे दबा देना चाहता है—नाश कर देना चाहता है। इसी प्रकार प्राणि-जगत्में अपनी स्थिति कायम रखनेके लिए बड़ी कशमकश हो रही है और होती रहेगी। इस कशमकशमें, इस प्रतिद्वन्द्वितामें, इस संग्राममें सदैव जिसकी लाठी उसकी भैंसके सिद्धान्तने कार्य किया है। जो अपनी शक्तिके बलपर विजयी हुआ वही अपनी

स्थिति कायम रख सका है, उसकी गणना जगत्के जीते जागते प्राणियोंमें हो सकी है और शेषने इसी जीवन-संग्राममें वीरगति पाई, आज भी उनकी इस नश्वर देहके अवशिष्ट अस्थि-पंजर भगवती वसुन्धराके कोशमें यत्र तत्र दिखाई दे जाते हैं। प्रकृति दुर्बलोंको पसन्द नहीं करती, कमज़ोरोंके लिए संसारमें स्थान नहीं है। अगर तुम निर्बल हो, कमज़ोर हो, तो मिटा डाले जाओगे, नाश कर दिये जाओगे, संसारके समर-क्षेत्रमें दुर्बलोंकी आवश्यकता नहीं है। योग्यतम प्राणी ही उसमें अपनी स्थिति कायम रख सकते हैं। इसीको डार्विनके शब्दोंमें Survival of the Fittest का सिद्धान्त कहते हैं और प्रकृतिके इसी योग्यतम निर्वाचनका नाम डार्विनने Natural Selection रखा है।

हमने ऊपर कहा था कि कलल-रसके कीटाणुओंमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहते हैं, इस लिए उनमें कोई एक कीटाणु दूसरे कीटाणुके समान पैदा नहीं होता, उनके साथ ही यह परिवर्तन—यह विशेषता—पैत्रिक सम्पत्तिके रूपमें उसकी परवर्त्ती सन्ततिमें भी संक्रान्त होती रहती है। यह विशेषता—यह भेद जो कि उनके बाह्य आकारमें—देहमें—होता है, उनके जीवन-संग्रामके लिए उपयोगी भी हो सकता है और अपकारक भी। उनके देहमें उत्पन्न हुआ कोई नूतन अवयव उनके जीवन-संग्राममें सफलता प्राप्त करनेके लिए सहायक भी हो सकता है, दूसरा कोई अंग इसी प्रकार घातक भी हो सकता है। इन दोनों ही प्रकारके अवयवोंको पैत्रिक सम्पत्तिकी भाँति आगामी सन्ततिमें भी संक्रान्त होना पड़ता है। इस प्रकार एक जीवन-संग्राम-सहायक अवयव एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें संक्रांत

और क्रमशः विकसित होता हुआ उसको संसारकी इस कशमकशमें कामयाब बना देता है, उसके जीवनको ध्रुव निश्चित कर देता है, तो दूसरा घातक अंग पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रान्त और विकसित होता हुआ किसी दिन उसके जीवनके नाशका कारण बन जाता है। इसी क्रम और नियमके अनुसार डार्विनकी दृष्टिमें इस प्राणि-जगत्का विकास हुआ है। वह प्राणी जो आज हमें जीवित जाग्रत् अवस्थामें दीख पड़ते हैं, अपने इस जीवन-संग्राममें विजयी हुए हैं, उन्होंने अपनेको संसारके समर-क्षेत्रके लिए उपयुक्ततम पात्र सिद्ध किया है, इसी लिए प्रकृति देवीने अपनी वरमाला उनके गले पहिनाई है। आज भी उनकी सत्ता दिखाई देती है। दूसरी ओर इन्हींके अनेक अभागे भाई-बन्धु उत्पन्न हुए, अपनी जीवनस्थितिके लिए लड़े; परन्तु उनके बाह्य आकारमें होनेवाले परिवर्तन अनुकूल नहीं प्रतिकूल प्रवाहमें जा रहे थे, इस लिए अपने जीवनकी अन्तिम घड़ियाँ गिनते हुए सर्वदाके लिए भगवती वसुन्धराकी विशाल उदर-दरीमें समा गये। यह था डार्विनका अपना आकस्मिक-भेद-वादका प्रारम्भिक सिद्धान्त। पीछेसे डार्विनने इस प्रक्रियाके आकस्मिक-भेदवाले अंशको हटाकर उसके स्थानपर लेमार्कके परिस्थितिवादको स्वीकार कर लिया, इसी लिए उसके पिछले ग्रन्थोंमें आकस्मिक-भेदवादका उल्लेख नहीं मिलता है।

लेमार्कका परिस्थितिवाद

लेमार्कके परिस्थितिवादके अनुसार कोई नवीन परिवर्तन किसी नवीन अवयवकी उत्पत्ति अकस्मात्—स्वतः—नहीं हो जाती, बल्कि उनकी उत्पत्तिका श्रेय बाह्य परिस्थितियोंको है। बाह्य परिस्थितियोंके

ऊपर ही प्राणियोंके सारे व्यवहार निर्भर रहते हैं। उनके खाने-पीने, चलने-फिरने आदि सबका संचालन परिस्थितियोंद्वारा ही होता है। एक प्राणीको अपनी परिस्थितियोंसे बाधित होकर अपनी गतिके लिए तैरनेकी आवश्यकता होती है, दूसरेको उसीके लिए उड़नेका आश्रय लेना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य सारी चेष्टाओंके ऊपर भी परिस्थितियोंका प्रभाव पड़ता है। कभी कभी परिस्थितिसे विवश होकर प्राणियोंको ऐसे अवयवोंकी आवश्यकता होती है, जो उस समय उन्हें प्राप्त नहीं होते। वह उसके लिए चेष्टा करते हैं, उसी परिस्थितिमें रहनेवाली उनकी सन्ततिको भी उसके लिए यत्न करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। इस प्रकार किसी नूतन अवयवकी आवश्यकता, उसकी अनुभूति और उसके लिए यत्न उनकी पैत्रिक सम्पत्ति बन जाती है—

करत करत अभ्यासके, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जाततें, सिलपर परत निसान॥

इस निरन्तर पीढ़ी दर पीढ़ी होनेवाले अभ्यासके कारण कालान्तरमें उस आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है, अर्थात् उस नूतन अवयवका उभार दिखाई देने लगता है और फिर कालान्तरमें वही चलते फिरते सचेष्ट नूतन अंगके रूपमें परिणत हो जाता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकारके किसी अवयवके विकासके लिए एक लम्बे समयकी—कई पीढ़ियोंकी—आवश्यकता है। किसी विकास-क्रमके अनुसार कई पीढ़ियोंके बाद किन्हीं नवीन अवयवोंसे युक्त प्राणियोंकी नवीन जातिकी उत्पत्ति हो जाती है। प्राणि-जगतकी यह विभिन्न जातियाँ इसी विकास-क्रमसे उत्पन्न हुई हैं।

संक्षेपमें लेमार्कके परिस्थितिवादके अनुसार विकास-प्रक्रियाके संचालनका श्रेय परिस्थिति, कमी, आवश्यकता, अभ्यास, आदत,

और विरासतको है। इन सबके सम्मिश्रणसे ही यह विकास-प्रक्रिया सम्भव हो सकी है।

डार्विनके आकस्मिक-भेदवाद और लेमार्कके परिस्थितिवादपर तुलनात्मक दृष्टि डालनेसे यह परिणाम निकलता है कि दोनोंके अनुसार प्राणियोंकी योनियाँ नियत नहीं हैं। बल्कि वह अनियत और अनन्त हैं। उनकी उत्पत्ति विकास-प्रक्रियाके अनुसार हुई है। डार्विनके अनुसार प्राणियोंके भीतर उत्पन्न होनेवाले भेद—नवीन अवयव—सर्वथा आकस्मिक हैं, परन्तु लेमार्ककी दृष्टिमें उनकी उत्पत्तिका श्रेय परिस्थितियोंको हैं। परिस्थिति, आवश्यकता, अभ्यास, आदत और विरासतसे ही उनका विकास हुआ है। डार्विनके अनुसार आकस्मिक रूपसे होनेवाले यह परिवर्तन ही नूतन योनियोंके सृष्टा हैं। परन्तु लेमार्कके अनुसार परिस्थितिके कारणसे उत्पन्न हुई विशेषताकी विरासतसे विविध योनियोंकी सृष्टि हुई है। डार्विनके अनुसार पहले अवयव—इन्द्रिय—की उत्पत्ति होती है और उसके बाद उसका उपयोग लिया जाता है। परन्तु लेमार्कके अनुसार पहले उस कार्यकी आवश्यकता अभ्यास एवं आदतकी उत्पत्ति होती है और उसके बाद निरन्तर अभ्यासके कारण नूतन अवयवका विकास हो जाता है। डार्विन प्रकृतिको नूतन अवयवोंका श्रेय देता है, जिनका कि उपयोग पीछेसे जीवन-संग्राममें होता है। परन्तु लेमार्ककी दृष्टिमें प्रकृति प्राणियोंको जीवन-संग्राममें अवतीर्ण होनेके लिए बाधित करती है और यह संग्राम—यह प्रतिद्वन्द्विता—उस संग्रामको सफल बनानेके लिए आवश्यक अवयवोंको जन्म देती है।

पञ्चम परिच्छेद

विकासवादपर आलोचनात्मक दृष्टि

पिछले परिच्छेदमें हमने विकासवादके सिद्धान्तका उपपादन करनेका यत्न किया है। उसके देखनेसे इस बातका पता चलता है कि इस विकासवादके दो अंश हैं जिनमेंसे एकमें जड़-जगत्के विकास और दूसरेमें चेतन-जगत्के विकासकी मीमांसा की गई है। दोनों विकासोंकी प्रक्रिया नितान्त स्वतंत्र रूपसे हो रही है, उसके पीछे किसी विचारशील शक्तिका हाथ नहीं है। परन्तु हमारी दृष्टिमें विकास-सिद्धान्त अपनेमें अपूर्ण है, आगेकी पंक्तियोंमें हम उसीकी कुछ आलोचनाका प्रयास करेंगे।

जड़-जगत्का विकास जैसा कि पहले कहा जा चुका है एक नैबुलासे हुआ है। यह 'नैबुला' एक वायवीय प्रकाशमान पिण्ड है। भारतके दार्शनिक साहित्यमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिके समय इस नैबुलीय पिण्डका दर्शन होता है। ब्राह्मण और स्मार्त साहित्यमें भी इस नैबुलाकी झाँकी 'महदण्डमजायत' के रूपमें देखनेको मिलती है। लाप्लासके नैबुलाका निर्मापक द्रव्य 'मेटर' पहलेसे मौजूद था, परन्तु भारतीय नैबुला 'महदण्ड' के अवयवरूप महाभूतोंके 'प्रविभक्त' परमाणुओंसे उत्पत्तिकी आवश्यकता होती है है, इसी लिए प्रशस्तपादाचार्यने लिखा है—

"एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रा तेजसेभ्योऽणुभ्यः पार्थिवाणुसहितेभ्यः महदण्डमारभ्यते।"

चारों भूतोंकी उत्पत्ति या विकास हो जानेके बाद तैजस अणुओंके साथ थोड़ी मात्रामें पार्थिव अणुओंका संयोग होकर एक तेजोमय 'महदण्डमारभ्यते' एक विशाल अण्डाकार पिण्डकी उत्पत्ति होती है। यही 'महदण्ड' भारतीय साहित्यका नैबुला है। इसी नैबुला-पिण्डसे विविध विश्वका विकास होता है। परन्तु पूर्व और पश्चिमके इस नैबुलाके निर्माण और उसके विकासमें उतना ही अन्तर है जितना पूर्व और पश्चिममें। पश्चिमी नैबुला स्वतंत्र है, उच्छृंखल है, उसके ऊपर किसीका अंकुश नहीं है, भारतीय नैबुला नियमित है, नियंत्रित है और महेश्वरके अधिष्ठातृत्वमें विकसित हो रहा है।

इस समस्त सौर-मंडलकी उत्पत्ति इस नैबुलासे उसी अवस्थामें हो सकती है जब कि वह स्वयं एक विशेष आकार-प्रकारसे, विशिष्ट गति-विधिसे और विशेष घनता एवं विरलता आदि आवश्यक और नियमित गुणोंसे युक्त हो। विश्व नियमित है, सौर-चक्र नियंत्रित है। अनियमित पिण्डसे उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? गोफनमें रक्खी हुई मिट्टीकी भाँति घूमते हुए नैबुलाके बिखरे हुए अवयवोंके रूपमें विविध ग्रह और उपग्रहोंकी सृष्टि हुई है, परन्तु इस प्रकारसे अवयवोंके बिखरनेके लिए भी एक विशेष प्रकारकी मिट्टीकी आवश्यकता है। वह मिट्टी जो पानीमें घोलकर बिल्कुल पतली कर दी जाय, इस कार्यके लिए उपयुक्त न होगी। लोटेके भीतर जल भरकर और डोरीमें बाँधकर उसे तेजीके साथ घुमाया जाय, तो लोटेके टेढ़ा तिरछा और उलटा हो जानेपर भी उससे पानीकी एक बूँद भी बाहर नहीं गिर सकती। चिकनी मिट्टी अत्यन्त कड़ी सानकर उसे गोफनमें घुमानेका परिणाम भी यही होगा, उसका एक कण भी बाहर नहीं जा सकता।

इसी लिए यह मिट्टी भी सौर-मण्डलके निर्माणके लिए उपयुक्त न होगी। हाँ, यदि सरलतासे बिखर जानेवाली रूखी मिट्टीको एक विशेष परिमाणके साथ जलमें मिलाकर गोफनद्वारा घुमाया जाय तो सम्भव है कि उसमेंके कुछ कण इधर उधर बिखर जायँ। फलतः नैबुलासे सौर-मण्डलकी उत्पत्तिके लिए भी उसमें एक विशेष आकार-प्रकार, एक विशेष गति-विधि और विशेष घन-विरल भावकी आवश्यकता है। इतने अधिक नियमित सौर-चक्रकी उत्पत्ति उच्छृंखल प्रकृतिकी अन्धगतिसे हुई है, यह विश्वास करनेको साधारण बुद्धि भी तैय्यार नहीं दीखती, इसलिए डा० फ्लिन्टने लिखा है—

The solar system could only have been evolved out of its nebulous state into that which it now presents if the nebula possessed a certain size, mass, form and constitution–if it was neither too rare nor too dense, neither too fluid nor too tenacious, if its atoms were all numbered, its elements all weighed its constituents all disposed in due relations to each other–that is to say only if the nebula was in reality as much a system of order for which intelligence alone could account, as the worlds which have been developed from it.

Theism Pp. 191–192.

फलतः लाप्लासके प्रसिद्ध नैबुलाका आश्रय लेकर भी विकास-सिद्धान्त अपूर्ण रह जाता है। उस विशेष आकार-प्रकारके लिए, उस विशिष्ट गतिके लिए और उस विशेष घन-विरल भावके लिए वह दूसरेका मुँह ताक रहा है। उस नियम, उस क्रम और उस परिणामका,

जिसकी उस विश्व-विकासके लिए नैबुलाको आवश्यकता है, पैदा करना अन्ध प्रकृतिकी उच्छृंखल गतिकी शक्तिके वाहर है, इसी लिए हक्सले जैसा प्रकृतिवादका सच्चा समर्थक भी अकुंठित भावसे स्वीकार कर चुका है कि–

The most thorough going evolutionist must at least assume a primordial molecular arrangement, of which all the phenomena of the universe are the consequences, and he is thereby at the mercy of the theologist who can always defy him to disprove that this primordial molecular arrangement was not intended to evolve the phenomena of the universe.

विकासवादकी आद्योपान्त आलोचना करनेके वाद पक्के विकास-वादीको भी कमसे कम उस आदिम क्रम-स्थापनको स्वीकार करना पड़ेगा, जिससे कि इस विविध विश्वकी सृष्टि हुई और इस क्रम-स्थापन-की समस्याके हल करनेके लिए उसे मूल तत्त्ववादका आश्रय लेना ही पड़ेगा। इस मूल तत्त्ववादके आदि-क्रम-स्थापनके वश ही इस विश्वका विकास सम्भव हुआ है। इस वातको अस्वीकार करनेका सामर्थ्य विकासवादीकी तर्कनाओं और कल्पनाओंमें नहीं है।

फलतः विश्व-विकासका मूल वह आदि-क्रम कहाँसे आया? उस नैबुलामें वह नियमित आकार-प्रकार, नियमित गति-विधि और नियमित घन-विरलभाव कैसे उत्पन्न हुआ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर देनेका साहस हक्सले जैसे पक्के प्रकृतिवादी भी न कर सके, उन्हें भी इन प्रश्नोंका उत्तर इन समस्याओंका हल दिखाई दिया, तो एक मात्र Teleology में। यह सृष्टि-उत्पत्तिसम्बन्धी प्रश्नोंमेंसे एक है,

जिसका उत्तर हमारे नहीं हक्सलेके शब्दोंमें विकासवादके पास नहीं है।

इसी प्रकार लाप्लासके नेवुला या उसके मूल द्रव्यमें होनेवाली आदिम गतिका कारण क्या है, इस प्रश्नके लिए भी विकासवाद परमुखापेक्षी है। विकास-सिद्धान्तकी आद्यन्त आलोचना करनेके बाद Emil-dou-Bois-Regmond ने Berlin Academy of Science के Liepzig वाले अधिवेशनके समय (१८८०) अपने प्रसिद्ध व्याख्यानद्वारा विकास-शास्त्रियोंके सामने सरल समस्याएँ रखी थीं। यह समस्याएँ सचमुच इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जिनका उत्तर विकासवादके पास है ही नहीं, इस लिए हम, विकास-सिद्धान्तको स्वतः अपूर्ण कहते हैं। उन्हीं समस्याओंमेंसे एक समस्या इस आदिम गतिकी है। हैकलने अपने (Law of Substance) द्रव्य-नियमके द्वारा इसे हल करनेका प्रयास अवश्य किया है परन्तु उसमें वह सफल हो सका है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सन् १९१४ के विज्ञान-सप्ताहमें प्रसिद्ध व्याख्याता डा० फ्लीमिंग-ने इस विकासके पीछे कार्य करनेवाली एक विचारशील शक्तिका उपपादन बड़े सुन्दर और सुबोध रूपमें किया है। विश्वके भीतर क्रम और नियम काम कर रहे हैं, विश्वमें एक प्रकारकी स्थिरता है, विश्वके भीतर विविध संचालन हो रहा है और यह सब है बोधगम्य। बहुत अंशतक मानव-बुद्धि उसे समझनेका यत्न कर सकती है। यह सब बातें ऐसी हैं जिनका उपपादन किसी विचारशील शक्तिकी सत्ता स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता। किसी भी बड़े कार्यको सुव्यस्थित रूपसे संचालन करनेके लिए हमें विचारशक्तिकी आवश्यकता

पड़ती है। रेलका प्रवन्ध हो रहा है। सारे भारतमें क्या सारे संसारमें रेलोंका जाल विछा हुआ है। डाँक, पैसेंजर, एक्सप्रेस, माल और स्पेशल सव ट्रेनें छूटती हैं, सव रुकती हैं; परन्तु कितने व्यवस्थित रूपसे। किसी प्रकारकी कोई वाधा उपस्थित नहीं होती। परन्तु उन सवका संचालन किसी विचारशील दिमागके विना तो नहीं हो रहा है? विना किसी विचारशील शक्तिके रेलकी व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती। इसी प्रकार सैन्य-संचालनके लिए भी असाधारण विचार-शक्तिकी आवश्यकता पड़ती है। फलतः हम जहाँ कहीं भी कोई क्रम, नियम और व्यवस्था देखते हैं स्वाभाविक रीतिसे इस परिणामपर पहुँचते हैं कि उसके पीछे अवश्य ही कोई विचारशील हाथ कार्य कर रहा है।

१—हममेंसे वहुतसे व्यक्ति ऐसे होंगे जो प्रातःकालके समय भ्रमण करनेके लिए किसी सुन्दर वगीचेमें जाते हैं। उनके साथ उनका छोटा बच्चा उँगली पकड़े जा रहा है। वगीचेकी रौसपर दोनों ओर वरावर बराबर एक पंक्तिमें सुन्दरताके साथ कटी-छटी मेंहदी लगी हुई है। क्यों पिताजी, यह कौनसे पेड़ हैं? यह तो वड़े सुन्दर हैं, कैसे सीधे एक वरावर लाइनमें लगे हुए हैं, दूसरे पेड़ तो इतने अच्छे नहीं लगते। कौन है जिसे वच्चेके भोलेपनपर एक वार मुस्काराहट न आ जाय? बेटा, यह अपने आप नहीं उगे हैं, यह तो खास तौरसे लगाये गये हैं। यह उत्तर उन भोले प्रश्नोंका एक निश्चित और नियमित उत्तर है। हमारे सामने एक सुन्दर विशाल भवन खड़ा है, अपने पाससे निकलते हुए राहगीरसे हमने पूछा—क्यों भाई, यह मकान किसने वनवाया है? हमारे प्रश्नके

उत्तरमें अगर राहगीर कहे कि अजी यह तो यों ही अपने आप बन गया, तो क्या हम विश्वास कर सकेंगे ? नहीं, कभी नहीं। क्यों ? इसलिए कि वह क्रम, वह सौन्दर्य और वह व्यवस्था पुकार-पुकारकर कह रही है कि इसके पीछे कोई दिमाग़ कार्य कर रहा है। यह क्रम, यह व्यवस्था और यह सौन्दर्य जड़-प्रकृतिकी अन्ध-गतिके बाहरकी बात है, उसका व्यवस्थापक कोई होना चाहिए। स्वयं लाप्लास और हक्सले भी इन उदाहरणोंमें इस बातको अस्वीकार नहीं कर सके; फिर इस विशाल विश्वकी व्यवस्थाएँ जड़-प्रकृतिकी अन्ध-गतिका परिणाम कैसे कही जा सकती हैं ? जड़वाद जिस समय इन व्यवस्थाओंको एकमात्र अन्ध प्रकृतिका कार्य कहता है, उस समय उस जड़वाद और जड़वादीकी जड़ता सचमुच बड़ी भयानक हो उठती है। एक ओर दृष्टान्तमें तो जड़वादी बड़े ज़ोरके साथ व्यवस्थापक दिमाग़की दुहाई देता है, मगर दूसरी ओर दार्ष्टान्तमें उसी व्यवस्थापक सत्ताके स्वीकार करनेमें उससे भी अधिक तेज़ीके साथ पीछे हटता है। यह अन्तः और बाह्य जीवन प्रबल प्रतिद्वंद्विता है। सिद्धान्त और अनुभवका विकट वैषम्य है। यह किसी हदतक स्वीकार किया जा सकता है कि एक बार उस व्यवस्थाके स्थिर हो जानेके बाद व्यवस्थापकको उस कार्यमें दख़ल देनेकी आवश्यकता नहीं रहती। रेलका बादका सारा कार्य-संचालन उस व्यवस्थापकद्वारा स्थिर किये गये नियमोंके आधारपर स्वयं होता रहता है। यह असम्भव नहीं कि उस व्यवस्थापकने जिस अवयवको जिस नियमके साथ जिस स्थानपर नियुक्त कर दिया, वह अवयव अब बिना किसी दूसरेकी दस्तन्दाज़ीकी अपेक्षा किए अपने नियमके अनुसार अपने

कार्यमें सुन्दर रूपसे संलग्न रहे। परन्तु एक बार तो उन नियमों, उस क्रम और व्यवस्थाके स्थापित करनेके लिए किसी दिमाग़की आवश्यकता होगी ही। उसके विना सिद्धान्त और अनुभवकी विषमता दूर नहीं की जा सकती।

२—हम इस जगतको अस्थिर समझते हैं; परन्तु उस अस्थिरताके भीतर भी एक विशेष प्रकारकी स्थिरता है। हमारी फूल-कुटीके सामने वह देखो जमुनाकी धारा बह रही है। वह कितनी अस्थिर है! इतनी अस्थिर जितनी कि दुनियाकी कोई वस्तु हो सकती है। जमुना-जलके वह कण जो आज मेरी फूल-कुटीके सामनेसे जा रहे हैं, कल प्रयाग पहुँचकर भगवती भागीरथीकी तरल तरंगोंमें विलीन हो जायँगे और परसों उस अनन्त, हाँ, उस भयानक क्षार-सागरकी गोदमें पहुँचकर विश्राम करेंगे। इस जमुनाकी धारामें इतनी तो है अस्थिरता, फिर भी मैं देखता हूँ कि जमुनाकी धारा मेरे स्मरणमें सदासे यों ही बह रही है। मुझे अपने शैशवसे याद है कि एक दिन भी ऐसा नहीं हुआ कि जिस दिन जमुनाके भीतर पाई जानेवाली अस्थिरताके कारण उस धाराके दर्शन न हुए हों। यह है जमुनाकी अस्थिरताके भीतर पाई जानेवाली स्थिरता। इसी प्रकार इस अस्थिर विश्वके भीतर भी एक प्रकारकी स्थिरता पाई जाती है और यह स्थिरता ही इस विश्वके पीछे कार्य करनेवाले क्रान्तदर्शी दिमाग़की सत्ता सिद्ध करनेके लिए एक प्रबल प्रमाण है। संसारके कार्य-क्षेत्रमें हमारा अनुभव है कि जिस जगह जितनी अधिक मात्रामें हमें इस स्थिरताका आलोक दिखाई देता है, उसके पीछे उतना ही विशाल दिमाग़ भी दिखाई देता है। एक साधारण राजने साधारण

तौरपर ईंटें गढ़कर एक रद्दीसा कमज़ोर भवन खड़ा किया है। उस राजका जितना बड़ा दिमाग़ है लगभग उतनी ही स्थिरता उसकी इस कृतिमें उपलब्ध होती है। दूसरी ओर एक अत्यन्त सुयोग्य इञ्जीनियर एक इमारत बनवाते हैं, जिसके लिए सैकड़ों वर्षोंकी स्थिर रहनेकी गारँटी देते हैं। इसकी सृष्टि जिस दिमाग़से हुई है वह कितना बड़ा है? बड़ा, बहुत बड़ा!! यह विशाल विश्व भी एक विशाल भवन है, जिसमें अरबों प्राणी वास करते हैं और जिसे बने करोड़ों वर्ष व्यतीत हो चुके। फिर कहो तो यह भी किसी दिमाग़की उपज है, इसमें कुछ सन्देह है? इसी प्रकार किसी जलयानके बनानेके लिए बड़े दिमाग़ और बड़ी गणनाकी आवश्यकता होती है जिसके ऊपर कि इस जलयानकी स्थिरता निर्भर रहती है। जलयान अनेक बार तूफ़ानकी भयानक लहरोंके थपेड़े खाता हुआ कभी इधर जाता, कभी उधर जाता परन्तु इन सब शैतानी आफ़तोंके झेलनेके बाद भी वह स्थिर रहता है। यही उसकी दृढ़ता है और यही तो वह पर्दा है जिसके पीछे असाधारण दिमाग़की झलक दिखाई देती है। अगर एक बार लाप्लास, हक्सले और हैकलसे भी कहा जाय कि तुम्हारी पैसिफिक महासागरकी विशाल-यात्राके लिए एक इस प्रकारके जहाज़का प्रबन्ध किया गया है जिसकी रचनामें विशेष गणना और दिमाग़से काम नहीं लिया गया है बल्कि उसे एक मात्र भाग्य या अन्ध-प्रकृतिपर छोड़ दिया गया है, जड़-प्रकृतिकी अन्ध-गतिने ही उसे ठीक बनाया होगा, उसके लिए किसी हिसाब-किताबकी आवश्यकता नहीं, तो इस बातको सुनकर क्या आप आशा करते हैं कि लाप्लास, हैकल और हक्सले उस यात्राके लिए तैयार हो जाते? नहीं, कभी नहीं। फिर हम इस भगवती वसुन्धराके इस विशाल यानसे यात्रा कर रहे

हैं, इस यानके यात्रियोंकी संख्या लगभग १५०० मिलियन (=दस लाख) है और उसके साथ उससे कहीं अधिक माल असबाब है। इतना विशाल यान हजारों वर्षोंसे निरन्तर दिक्, काल और आकाशके अनन्त सागरमें बड़ी तेजीके साथ यात्रा कर रहा है। क्या इस यानकी रचना बिना किसी प्रकारके परिगणनके एक मात्र जड़-प्रकृतिके अन्ध-गति-विकासके द्वारा ही हुई है?

एक बात और है, जो हमें विवश करती है इस विश्वप्रपंचके पीछे किसी मनीषी मस्तिष्ककी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करनेके लिए। और वह है निर्देशक शक्ति। संसारके समग्र पदार्थोंकी सृष्टि कुछ गिने-चुने मौलिक द्रव्योंके परमाणुओंसे हुई है। यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। आधुनिक विज्ञानके अनुसार उन मूल तत्त्वोंकी संख्या लगभग ८० है और पूर्वीय दार्शनिकोंके विचारसे जगत्के मूल कारणके रूप पंच महाभूत हैं। इन्हीं ८० प्रकारके (या पाँच प्रकारके) परमाणुओंसे इस अनन्त विश्वका विकास हुआ है। इस अनन्त विश्वके केवल इस भागको जिसका कि मानव-जीवनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है लेकर ही हम इस प्रश्नकी आलोचना किया करते हैं। खाद्य सामग्री मानव-जीवनके लिए एक अपरिहार्य वस्तु है। इस खाद्य सामग्रीका यदि विभाग और विस्तार किया जाय, तो स्वयं एक विशाल विश्वके रूपमें परिणत हो जायगी। खाद्य सामग्रीके षड्रस, उसमेंसे प्रत्येक रसके अन्तर्भूत सैकड़ों पदार्थ और उन सब पदार्थोंमेंसे एक एक अनेक भेद, इस प्रकार केवल हमारी खाद्य सामग्रीका परिगणन भी वस्तुतः गणितकी सीमाके बाहर निकल जाता है। परन्तु इस अनन्त-खाद्य विश्वको भी आजके वैज्ञानिक सिद्धान्तोंने परिमित कर दिया है। अनेक प्रकारकी खाद्य सामग्रीका विश्लेषण कर

लेनेके बाद आजके वैज्ञानिक इस परिणामपर पहुँचे हैं कि उनकी सृष्टि केवल छः प्रकारके मौलिक परमाणुओंसे हुई है। Carbon, Oxygen, Hydrogen, Nitrogen, Sulphur, और Phosphorous यह छः तत्त्व हैं जिनसे कि हमारे इस अनन्त खाद्य-जगत्की उत्पत्ति हुई है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वर्णमालाके परिमित अक्षरोंसे अपरिमित भाषा-शास्त्रकी। यह छः मौलिक तत्त्व वर्णमालाके अक्षर हैं और अनन्त खाद्य-सामग्री इस वर्णमालासे बने अनन्त शब्द-सागरके स्थानपर है। इन्हीं गिने-चुने मूल तत्त्वोंसे किस प्रकार अनन्तकी—अपरिमितकी उत्पत्ति होती है, यह तो आश्चर्य है। एक ही बगीचेमें लगे हुए आम और जामुन, नीबू और अनारके पेड़ जल-वायु-पृथ्वीसे सम्बन्ध रखते हुए भी किस प्रकार विभिन्न फल-फूलों, पत्तों और विभिन्न रसोंकी सृष्टि करते ह, क्या यह केवल जड़-प्रकृतिका अन्ध-विकास है? अभी उस दिनकी बात है, हवा ज़रा तेज़ चल रही थी, मैं जंगलकी तरफ घूमने जा रहा था, साथमें कुछ विद्यार्थी भी थे। उनमेंसे एक विद्यार्थीके हाथ वहीं हवामें उड़ता हुआ कागज़का एक छोटासा टुकड़ा पड़ गया। इस कागज़पर कालिदासक श्लोक छपा हुआ था। विद्यार्थियोंने उस श्लोकको देखकर मुझसे बड़ी उत्सुकताके साथ पूछा—पंडितजी, यह किसका श्लोक है? मैंने कहा—किसीका तो नहीं, प्रेसमें कम्पोज़ीटरने बहुतसे अक्षरोंको एक थैलेमें भरकर ज़ोरसे हिलाया और उन जड़ अक्षरोंके अंध संघर्षणसे बना बनाया यह श्लोक स्वयं तैयार हो गया, इसका बनानेवाला कोई नहीं। छोटे बच्चोंने कुछ अविश्वास और कुछ आश्चर्यभरी आँखोंसे मुझे देखा, कुछ बड़े और समझदार लड़कोंने ज़ोरका कहकहा लगाया। आँखोंकी चमक और उस कहकहेमें एक विशेष भाव था। शायद

वह अपनी अव्यक्त भाषामें कह रहे थे-'यह असम्भव है'। उन छपी हुई पंक्तियोंके भीतर एक रस था, एक क्रम था, और था एक नियमित वर्ण-विन्यास। इस श्लोककी रचना तो किसी भावुकतापूर्ण हृदयसे ही हुई है, वह बेचारा कम्पोज़ीटर या उसका जादूका थैला तो क्या खाकर इसे बना सकेगा? मैंने कहा-हाँ भाई, यह वर्ण-विन्यास विश्वविख्यात महाकवि कालिदासकी कृति है। आज भी मुझे यह बात याद आ रही है। वर्णमालाके अक्षर एक श्लोकके रूपमें व्यक्त होनेके लिए यदि एक भावुक हृदय और मनीषी मस्तिष्ककी अपेक्षा रखते हैं, तो फिर संसारकी इस वर्णमालाके वर्ण—मूलतत्त्व—इस विश्वकी अभिव्यक्ति करनेमें स्वतः समर्थ कैसे हो सकेंगे?

लार्ड कालविन Lord Kalvin ने एक दिन खेतोंमें भ्रमण करते समय अपने साथी सुप्रसिद्ध रसायनज्ञ लीबिग Liebig से पूछा कि क्या आपके विचारमें यह सुन्दर फूल और हरे-भरे पेड़ पौधे एक मात्र रासायनिक परिवर्तनके परिणाम हैं? लीबिगने उत्तर दिया—नहीं—

No more than I believe a book on Botany describing they could grow by mere chemical forces. They both need a designing and directing power.

ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि वनस्पतिशास्त्रसम्बन्धी कोई पुस्तक जिसमें इन पेड़ पौधोंका विवेचन किया गया है केवल रासायनिक शक्तिसे पैदा नहीं हुई, इसी प्रकार यह हरे-भरे क्षेत्र भी एक मात्र रासायनिक परिवर्तनके परिणाम नहीं हैं, उन दोनोंके लिए ही एक विचारशील और निर्देशक शक्तिकी आवश्यकता है।

इसके साथ ही इस विश्व-विवेचनके द्वारा हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि संसार किसी हदतक एक बोधगम्य वस्तु है। यद्यपि

न्यूटनके कथनानुसार आजतक हम इस अनन्त ज्ञान-सागरके किनारे यत्र-तत्र पड़े हुए पत्थरके टुकड़े एवं खाली सीपें ही बीनते फिरते हैं, और हमारे सामने अनन्त ज्ञानसागर जिसमें अपरिमित रत्न भरे हुए हैं बिलकुल अनवगाहित पड़ा है; फिर भी जहाँ तक हम पहुँच सके हैं देखते हैं कि इसकी रचना इस ढंगसे हुई है जो हमारी मनन-शक्ति और मस्तिष्कपर एक विशेष प्रभाव डालती है। ऐसा मालूम होता है मानो वह स्वयं अपने स्वरूपको हमपर प्रकट करना चाहती है। अथवा सांख्यके शब्दोंमें—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्त्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥

जिस प्रकार नर्तकी महफिलमें अपने हाव-भाव और चेष्टाएँ दर्शक-मण्डलको दिखाती है, उसी प्रकार प्रकृति चेतन पुरुषके सामने अपना स्वरूप खोलनेका यत्न करती है।

फलतः विश्वका स्वरूप ऐसा अवश्य है जो किसी हदतक हमारे मस्तिष्कके सामने व्यक्त हो सकता है। अर्थात् उसके भीतर इस बातकी योग्यता पाई जाती है कि एक विवेचक मस्तिष्क उसे समझनेका यत्न करे, तो उसे बहुत अंशतक सफलता हो सकती है। इसीको हमने संसारकी बोधगम्यता कहा था। वह बोधगम्यता भी एक ऐसा विशेष गुण है जो हमारी इस प्रकृत आलोचनामें विशेष उपयोगी है। जिस वस्तुको एक मस्तिष्क समझ सकता है अवश्य ही उसकी उत्पत्ति भी किसी विचारशील शक्तिसे ही होनी चाहिए। उदाहरणके लिए—आज प्राचीन अन्वेषणकर्त्ताओंकी कृपासे भारतमें और भारतके बाहर भी अनेकों स्थानोंपर ज़मीन खोदकर प्राचीन संसारके

अनेकानेक भग्नावशेषोंका जीर्णोद्धार किया जा रहा है। भारतीय खुदाईमें बौद्धकालीन और उनसे भी प्राचीन अनेक शिलालेख यत्र-तत्र मिले हैं। इसी प्रकार, बैबीलोनिया और मैसोपोटामियासे भी इस प्रकारकी सामग्री उपलब्ध हुई है। आज हज़ारों वर्ष बीत जानेके बाद भी, जब कि उस भाषाका जाननेवाला जिनमें कि वह शिलालेख खुदे हुए हैं, शायद कोई शेष नहीं। विशेषज्ञ विद्वानोंने ऐड़ीसे चोटी तक अपना पसीना बहाकर उन शिलालेखोंको पढ़नेका यत्न किया और उसके परिणाममें उन्हें सफलता भी हुई है। उन प्राचीनतम शिलालेखोंमें शायद कोई भी ऐसा न बचा जो पढ़ न लिया गया हो। इसका कारण क्या है? उनकी रचनामें एक विशेषता थी। एक विचारशील मस्तिष्कसे उनकी सृष्टि हुई थी, इसी लिए हमारे मस्तिष्कने उसे समझ लिया। परन्तु बन्दर या अबोध बालककी चील-बिलइयोंका अर्थ न तो आजतक किसीने समझा है और न समझनेका यत्न किया है। उन चीलबिलइयोंकी सृष्टि किसी विचारशील शक्तिसे नहीं हुई, इसी लिए न किसीने उनका अर्थ समझा है न समझनेका यत्न किया है। फलतः यदि विश्वकी गति-विधिका कोई अर्थ है, यदि उसका स्वरूप किसी अंशतक मस्तिष्कद्वारा समझा जा सकता है, तो वह यह स्वीकार करनेके लिए विवश करता है कि उसकी उत्पत्ति भी अवश्य किसी विचारशील मस्तिष्कद्वारा हुई है।

फलतः विश्व-व्यवस्था, संसार-स्थैर्य, निर्देश, नियम और जगज्ज्ञेयत्व इन सबके सम्मिश्रणसे जिन अकाट्य तार्किक तर्कनाओं एवं भक्ति-भावनाओंकी उत्पत्ति हुई, उनके आगे तो हैकल, हक्सले, और स्पेन्सरको भी सिर झुकाना ही पड़ेगा। उसके बिना गति नहीं है।

षष्ठ परिच्छेद

उत्क्रान्तिवादका आलोचन

जीवन-विकास

विश्व-विकासके बाद जीवन-विकासकी बारी आती है। जीवन-विकास शब्दसे तात्पर्य उस विकाससे है जिसका कि क्षेत्र जड़-जगत्को छोड़कर चेतन प्राणी हैं। अर्थात् पृथ्वीकी सृष्टि हो चुकनेके बाद उसपर वास करनेवाले विविध प्राणियोंकी उत्पत्ति कैसे हुई, इस प्रश्नका उत्तर देनेवाला सिद्धान्त जीवन-विकास नामसे कहा जाता है। जीवन-विकासका सबसे सुन्दर उपपादन डार्विनकी Origin of Species और Descent of Man नामक दो पुस्तकोंमें किया गया है। उत्क्रान्तिवादने इस जीवन-विकासका विवेचन भी जड़ प्रकृतिके भीतर होनेवाले उन्हीं अन्ध परिवर्तनोंके आधारपर किया है। इस जीवन-विकासके पीछे भी उन्हें किसी चेतन या विचारशील सत्ताकी आवश्यकता महसूस न हुई। परन्तु वस्तुतः बात इसके विपरीत है। जिस प्रकार कि हम पहले देख चुके हैं विश्व-विकासके सम्बन्धमें बहुतसे ऐसे प्रश्न उठते हैं जिनका उत्तर उत्क्रान्तिवादके पास नहीं है और जगत्में बहुतसी ऐसी विशेषताएँ हैं जिसका सामाञ्जस्य एक मात्र जड-प्रकृतिके अन्ध परिवर्तनोंके साथ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीवन-विकासविषयक अनेक प्रश्नोंका उत्तर भी उत्क्रान्तिवादकी शक्तिके बाहर है।

हम ऊपर यह भली भाँति देख चुके हैं कि वस्तुतः विश्व-विकास जड़-प्रकृतिकी अन्ध-गतिका परिणाम नहीं है बल्कि उसके पीछे एक विचारशील मस्तिष्क कार्य कर रहा है; फिर भी थोड़ी देरके लिए इस जीवन-विकासके प्रश्नपर विचार करनेके लिए यदि दुर्जनतोष-न्यायसे उत्क्रान्तिवादियोंके उस विश्व-विकासको स्वीकार कर लिया जाय, तो भी जीवन-विकासकी समस्या कुछ हल होती दिखाई नहीं देती। उत्क्रान्तिवादके इस पथमें कई इतनी बड़ी बड़ी खाइयाँ पड़ती हैं कि उनका पार कर सकना या उन्हें पाट सकना उत्क्रान्तिवादकी शक्तिके बाहर है। सबसे पहली और सबसे भयानक खाई जड़-जगत् और चेतना-जगत्के बीच दिखाई देती है। अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति कैसे हुई, जड़ प्रकृतिसे जीवनका विकास कैसे हुआ, यह पहेली बड़ी दुःसाध्य है। पाश्चात्य उत्क्रान्तिवादने इसका सन्तोषजनक हल नहीं कर पाया है। पौरस्त्य दार्शनिकोंमें भी उसी प्रकारके कुछ नास्तिक उत्क्रान्तिवादी हैं। चार्वाक मतको उसी नास्तिक उत्क्रान्तिवादका अनुयायी समझना चाहिए। नास्तिक-शिरोमणि चार्वाकने भी अचेतनसे चेतनता और जड़से जीवनकी उत्पत्ति सिद्ध करनेका यत्न किया है। उसकी प्रतिज्ञा है—

चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्॥

जैसे सुराके प्रकृतिरूप रस आदिसे मिलकर मादक शक्तिकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार देहाकारमें परिणत हुए पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि इन चारों जड़भूतोंसे चेतनताकी—जीवनकी—उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार पौरस्त्य उत्क्रान्तिवादने चेतन-जगत् और जड़-

जगत्‌के बीच इस भारी खाईको भरनेका प्रयास अवश्य किया है; मगर उसमें वह सफल हो सका है ऐसा कहना कठिन है। किण्वादिकोंके सम्मिश्रमणमें मादक शक्ति विकसित अवश्य होती है, यह तो एक तथ्य है, इसमें किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। मगर प्रश्न तो यह है कि क्या उन द्रव्योंके सम्मिश्रमणमें सचमुच मद-शक्तिकी उत्पत्ति होती है? उत्पत्ति और अभिव्यक्तिमें भेद है। उत्पत्ति पूर्वमें अविद्यमान् वस्तुकी होती है और अभिव्यक्त होनेवाली वस्तु पूर्वसे सत् रहती है। कुम्हारके चाक और उसके व्यापारके बाद घटका दर्शन होता है। उस व्यापारसे पहले घट नहीं था—इसे हम कहते हैं कि घट पैदा हुआ—घटकी उत्पत्ति हुई। परन्तु आपके जल-घरमें घड़ा रक्खा है, अँधेरी रातमें घोर अन्धकार होनेसे उसका दर्शन नहीं होता, थोड़ी देर बाद लालटैन आनेपर रक्खा हुआ घड़ा दिखाई देने लगता है। इसे हम कहते हैं घटकी अभिव्यक्ति। पहली स्थितिमें घड़ा कुम्हारके व्यापारसे पहले असत् था, दूसरी अवस्थामें लालटैन आनेसे पहले भी घड़ा सत् था। प्रथम अदर्शनके बाद दर्शन होना दोनों स्थलोंमें समान है। इसी सूक्ष्म भेदके कारण पहलेको उत्पत्ति और दूसरेको अभिव्यक्ति कहा जाता है। अब प्रकृत स्थलमें विचारणीय यह रह जाता है कि दृष्टान्त रूपसे प्रस्तुत सुरामें मद-शक्तिका विकास उत्पत्ति कहा जाय या अभिव्यक्ति? मद-शक्तिके स्पष्टतः प्रकट होनेके पहले उसके कारणरूप द्रव्योंमें किसी परिमाणमें उसकी सत्ता थी या नहीं? हमारे विचारसे इस प्रश्नके उत्तरमें कहे गये 'नहीं' की अपेक्षा 'हाँ' में अधिक ज़ोर होगा। फलतः मद-शक्तिकी सत्ता सुराके उपादान द्रव्य किण्वादिकमें पहलेसे ही विद्यमान थी, उसकी उत्पत्ति नहीं अभिव्यक्ति

होती है। मगर उत्क्रान्तिवादको चेतनाकी अभिव्यक्ति नहीं उत्पत्तिकी ज़रूरत है। जड़—अचेतन—प्रकृतिसे चेतनाकी—जीवनकी—उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? संसारके उदाहरणोंमें जीवनकी उत्पत्ति जीवनसे होती है। वैज्ञानिक परीक्षणोंमें भी अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति—जड़से जीवनका विकास—न आजतक हो सका है और न भविष्यमें सम्भावना ही है। स्वयं उत्क्रान्तिवादी वैज्ञानिकोंने जीवनके मूलभूत प्रोटोप्लाज्मके निर्माण और उसके द्वारा चेतन जीवात्माको उत्पन्न करनेका प्रयत्न अनेक बार किया है; परन्तु आजतक कोई भी वैज्ञानिक इस परीक्षणमें सफल नहीं हो सका। फलतः चेतन और अचेतन जगत्के बीचका अन्तर महान् है, अनन्त है, उत्क्रान्तिवाद उसका अन्त कर सकनेमें असमर्थ है।

इसी प्रकारकी दूसरी खाई साधारण जीवन और अनुभूतिविशिष्ट जीवनके बीच पड़ी हुई है। वृक्षोंके भीतर भी जीवन माना जाता है, परन्तु इस जीवनमें अनुभूति नहीं है। पशुओंके जीवनमें अनुभूति है। इसीलिए पशु-जीवन और वानस्पतिक जीवनमें भेद है। एक Conscious, कान्शस या अनुभूतिमय जीवन है, तो दूसरा Unconscious अन्कान्शस या अनुभूतिरहित है। एकमें अनुभूति है तो दूसरा उससे शून्य है। फलतः साधारण—अनुभूतिरहित—जीवनमें अनुभूतिका विकास कैसे हुआ, यह दूसरा प्रश्न है जिसका उत्तर उत्क्रान्तिवादके पास नहीं है।

इस सहानुभूतिसे और आगे बढ़कर पशु-जीवन और मानवमें एक भेद प्रतीत होता है। पशु-जगत्में जीवन भी है और अनुभूति भी, परन्तु इन दोनोंसे भी विकसित अवस्था विचार-शक्ति नहीं है। उसका तो प्रथम और अन्तिम दर्शन मानव-समाजमें ही हुआ है। पशु विचार-

शक्ति रहित हैं, मनुष्योंमें विचारका विकसित स्वरूप दिखाई देता है, यह विकास कहाँसे हो सका है ?

संक्षेपमें उत्क्रान्तिवादके पथमें यह तीन ऐसी विकराल खाइयाँ पड़ी हैं जिनका भरा जा सकना असम्भव है । चेतनशक्तिरहित यंत्रीय उत्क्रान्ति जीवन-विकासमें—जड़-जगत् और जीवन, सामान्य जीवन और अनुभूतिविशिष्ट जीवन, एवं पाशव और मानवी अनुभूतिके बीच पाई जानेवाली विषमताको सम कर सकनेमें अक्षम है ।

ऊपर हमने जीवन-विकासका स्वरूपोपपादन करते हुए प्रमुख उत्क्रान्तिवादी डार्विन और लेमार्कके दो विभिन्न मत प्रस्तुत किये थे । उसी प्रकरणमें यह भी लिखा गया था कि अपने जीवनके अन्तिम भागमें डार्विनने भी अपने आकस्मिक-भेद-वादके स्थानपर लेमार्कके परिस्थितिवादको ही विशेष महत्त्व दिया था, इसी लिए उसके उत्तर ग्रन्थोंमें परिस्थितिवादका विशेष ज़ोर दिखाई देता है । डार्विन और लेमार्क अपने समयके विशेष व्यक्तियोंमें हुए हैं और उनका सारा जीवन वैज्ञानिक अन्वेषणोंमें ही व्यतीत हुआ है, इस लिए इस सम्बन्धमें उनकी बात कुछ बोझल अवश्य है और कमसे कम हम जैसे साधारण व्यक्तियोंको उसपर अँगुली उठानेका शायद विशेष अधिकार नहीं है । फिर भी हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि वह ज़माना जब कि डार्विन और लेमार्कके साहित्यका निर्माण हुआ वैज्ञानिक युगका प्रारम्भिक भाग था । उस समय तक वैज्ञानिक मस्तिष्ककी गति जहाँ तक हो सकी थी, उसीका दिग्दर्शन तात्कालिक साहित्यमें कराया गया है । उसके बादसे अब तक आविष्कारों, अन्वेषणों और परीक्षणोंका ताँता बँधा हुआ है । प्रतिदिन नये परिशोध, और

नये संशोधन वैज्ञानिक जगत्में होते रहते हैं, इस लिए वैज्ञानिक विचारोंका सहारा लेनेवाले लोगोंको आज भी डार्विन और लेमार्कके अन्वेषणोंको ही पीटे जाना शोभा नहीं देता। इसके विचार अपरिपक्व वैज्ञानिक युगकी सृष्टि थी, तबसे अब तक उस पथमें भी विज्ञानने अनेकानेक संशोधन या परिशोधन किये हैं, इस लिए हम डार्विन या लेमार्कके विचारोंकी आलोचनामें अपने स्वतंत्र मस्तिष्कका आश्रय न लेते हुए उसके लिए योग्यतम अधिकारी वैज्ञानिक विशेषज्ञोंके विचारोंका ही दिग्दर्शन करायेंगे।

हम ऊपर कह चुके हैं कि अन्तिम समयमें डार्विनने भी अपने आकस्मिक-भेद-वादको तिलाञ्जलि दे लेमार्कके परिस्थितिवादको ही अपना लिया था, इस लिए इस समय हमारे सामने आलोचनाके लिए लेमार्कका परिस्थितिवाद ही रह जाता है। इस परिस्थितिवादके विश्लेषणमें हमें उसके दो मुख्य भाग उपलब्ध होते हैं—

१—प्रत्येक प्राणीको अपने चारों ओरकी बाह्य परिस्थितिके अनुसार विभिन्न अङ्गों या अवयवोंकी आवश्यकता अनुभूत होती है। यह आवश्यकता उस प्राणीके भीतर क्रमशः चेष्टा, अभ्यास, और आदतको जन्म देती है जिससे कि कालान्तरमें प्राणीके भीतर उस विशिष्ट अवयवकी उत्पत्ति या विकास हो जाता है।

२—इस प्रकार परिस्थिति ही विभिन्न प्राणियोंके देहमें विभिन्न आवश्यक अंगोंके आविर्भावका कारण बनती है और इस प्रकार प्राप्त किये हुए अंगों, अवयवों या विशेषताओंको वह प्राणी विरासतके द्वारा अपनी सन्ततिमें संक्रान्त करता है। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्थासे अन्तिम अवस्था तक क्रमशः प्राणि-जगत्का विकास हुआ है और होता रहेगा।

लेमार्कके इस परिस्थितिवादके स्थापनके बाद जर्मनीमें वीज़मैन Weissmann नामक एक प्रसिद्ध प्राणिशास्त्रज्ञका आविर्भाव हुआ। वीज़मैन अपने विषयके ऊपर एक प्रामाणिक आचार्य समझा जाता है और आज कल प्राणि-शास्त्रके जगत्‌में उसका पलड़ा सबसे अधिक भारी है—उसका महत्त्व बहुत बड़ा है। वीज़मैनने अपने पूर्ववर्ती डार्विन और लेमार्कके सिद्धान्तोंका क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया। अपने परीक्षणोंद्वारा उसने प्राणि-शास्त्रसम्बन्धी कुछ सिद्धान्तोंका आविष्कार भी किया; परन्तु अपने सारे श्रवण, मनन और निदिध्यासनके बाद वीज़मैन जिस परिणामपर पहुँचा उसके साथ डार्विन और लेमार्कके विचार टक्कर नहीं खाते। वीज़मैनका विचार है कि प्राणियोंकी उपार्जित की हुई कोई भी विशेषता जब तक कि वह Germ plasm जर्म प्लाज्म या मूल कललमें न हो, उसकी सन्ततिमें संक्रान्त नहीं हो सकती। वीज़मैनके सिद्धान्तके स्पष्टीकरणके लिए उसके कुछ पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या अपेक्षित है—

1—Acquired Characters or Modifications.

वीज़मैनके इसी पारिभाषिक शब्दके लिए हमने 'उपार्जित विशेषता' शब्दका प्रयोग किया है। उपार्जित विशेषतासे आशय उन विशेषताओंसे है, जिनका उपार्जन कोई प्राणी परिस्थितियोंके प्रभावसे अपने जीवन-कालमें करता है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिए कि परिभाषाका विशेष ज़ोर प्राणीके जीवन-कालसे है। अर्थात् उपार्जित विशेषता वही कही जा सकती है, जो उसके जन्मकालसे न होकर उसके बाद ही उसके भीतर सम्मिलित हुई है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह 'उपार्जित विशेषता' प्राणीके देह या

कभी कभी उसके मस्तिष्क तक ही सीमित रहती है। जर्म प्लाज्म-के साथ उसका सम्बन्ध नहीं।

जर्म प्लाज्मसे आशय उस मौलिक तत्त्वसे है, जिसके द्वारा दूसरे प्राणी या पूर्ववर्ती प्राणीसे ही सन्तातिका निर्माण होता है।

Germ cell (जर्म सेल) यह एक प्रकारका अणु-घटक है जिसके भीतर सन्ततिका मूलभूत जर्म प्लाज्म भरा हुआ है। नर-प्राणीकी देहसे प्रस्तुत हुआ जर्म सेल मादाके दूसरे जर्म सेलके साथ मिलकर नवीन व्यक्तिकी सृष्टि करता है। नर और मादाके इन दोनों जर्म सेलके सम्मिश्रणका नाम ही फर्टिलाइजेशन Fertilization है।

वीजमैनका मुख्य सिद्धान्त दो अंशोंमें विभक्त किया जा सकता है—Germ cell का स्थैर्य और उपार्जित विशेषताओंकी असंक्रान्ति। Germ cell के स्थैर्यका आशय यह है कि साधारणतः सन्तन्तिकी सृष्टि पितृ Germ plasm से होती है। इसको हम उच्च प्राणियोंकी सृष्टिमें संयुक्त रज और वीर्यको स्थान दे सकते हैं। इसीको Fertilized egg नामसे कहा जाता है। परन्तु इसमें एक विशेषता यह भी है कि इस Fertilized egg के भीतर संचित समग्र Germ plasm का उपयोग सन्ततिके देह-निर्माणमें ही नहीं हो जाता है बल्कि उसका कुछ अंश शेष रह जाता है जो कि सन्ततिके Germ cell के निर्माणमें सहायक होता है। इस प्रकार पितृ Germ cell सन्ततिके देहको ही नहीं बल्कि उसके Germ cell को भी पैदा करता है। सन्ततिनिष्ठ Germ cell की उत्पत्ति सन्ततिकी Body cell से नहीं बल्कि पैत्रिक Germ cell से ही होती है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा

सकता है कि Germ cell जर्म सेल या बीज-कोष तो Body cell बॉडी-सेल या शरीर-कोषके रूपमें परिवर्तित हो सकता है, मगर Body cell का Germ cell के रूपमें परिवर्तन असम्भव है। गीली मिट्टी कुम्हारके चाक और अवेमें चढ़कर पक्के घड़ेके रूपमें परिणत हो सकती है; परन्तु पक्का घड़ा फिर गीली मिट्टी नहीं वन सकता। वीज़मैनका यही आशय Germ cell के स्थैर्य-नियमसे है। वीज़मैनका यह सिद्धान्त आज बहुत मान्य समझा जाता है।

इस मौलिक सिद्धान्तको समझ लेनेके वाद 'उपार्जित विशेषताओंकी असंक्रान्ति'का दूसरा सिद्धान्त वहुत स्पष्ट और सरल हो जाता है। 'उपार्जित विशेषता'की परिभाषामें यह कहा जा चुका है कि उसका सम्वन्ध व्यक्तिके देह और कभी कभी मस्तिष्क तक सीमित रहता है। Germ plasm या वीज-कललके साथ उसका सम्बन्ध नहीं। ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि Body plasm का Germ plasm के रूपमें परिवर्तन नहीं होता। इस लिए देह या मस्तिष्कसे सम्वन्ध रखनेवाली विशेषताओंका सम्पर्क Germ plasm के साथ हो सकना सर्वथा असम्भव है। यह भी हम देख चुके हैं कि किसी प्राणीकी उत्पत्ति या उसका विकास एक मात्र पैतृक Germ cell ही होता है। अर्थात् सन्ततिके भीतर इसी प्रकारकी किसी पैतृक विशेषताकी संक्रान्ति हो सकती है जिसका सम्बन्ध पैतृक Germ cell के साथ हो। और 'उपार्जित विशेषता' का सम्वन्ध Germ cell के साथ नहीं होता; फलतः कोई भी 'उपार्जित विशेषता' किसी भी प्रकार विरासतके रूपमें सन्ततिमें संक्रान्त नहीं हो सकती। अर्थात् लेमार्कके 'परिस्थितिवाद' द्वारा

उपार्जित विशेषताओंकी विरासत वीज़मैनके विचारानुसार असंगत और असम्भव है। संक्षेपमें यही Weissmann के अभिनव अन्वेषण और आविष्कारोंका आशय है, ऐसा कहा जा सकता है।

इस प्रकार लेमार्कके 'परिस्थितिवाद' का एक अंश शेष रह जाता है। जिसका आशय यह है कि प्राणीके जीवन-कालमें उसके भीतर परिस्थितियोंके अनुसार अनेकानेक इन्द्रियों, अवयवों और विशेषताओंकी उत्पत्ति या विकास हुआ करता है। इसी विकासके कारण प्राणि-जगत्‌में विभिन्न योनियोंका आविर्भाव हुआ है। इस अंशपर विचार करते समय हमें परिस्थितियोंकी शक्ति और उनके स्वरूपका पर्यालोचन सरसरी दृष्टिसे अवश्य कर लेना चाहिए। इससे हमारा विषय बहुत कुछ सरल हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि परिस्थितियोंका प्रभाव क्या जड़-जगत्‌में और क्या चेतन-जगत्‌में अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है; परन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि परिस्थिति—केवल परिस्थिति ही—प्राणियोंके निर्माणका कारण है? दूसरे शब्दोंमें क्या प्राणियोंकी रचनापर परिस्थितियोंका ऐसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कुम्हारके व्यापारका गीली मिट्टीपर? कुम्हार गीली मिट्टीको लेकर उससे कभी घड़ा, कभी सकोरा और कभी नाँद, जो चाहता है बनाता है। मिट्टी पूर्णतः उसके अधिकारमें है, जिस साँचेमें—जिस शकलमें—वह चाहेगा मिट्टीको उसी रूपमें परिणत होना होगा। तो क्या यही हालत—यही सम्बन्ध प्राणियों और परिस्थितियोंका है? नहीं, कभी नहीं, कदापि नहीं। लौकिक दृष्टि और अलौकिक दृष्टि सबसे इस प्रश्नका एक ही उत्तर दिया जा सकता है और वह है नकार। स्वयं लेमार्क भी इस सत्यको स्वीकार

करता है। उसकी दृष्टिमें भी परिस्थितियाँ केवल निर्माणमें सहायक या उत्तेजक होंती हैं। अंगों, अवयवों या विशेषताओंका असली विकास तो किसी अन्तःशक्ति—जीवन-शक्तिके द्वारा होता है। बाह्य परिस्थितियाँ इस अन्तःशक्ति—जीवन-शक्तिपर प्रभाव डालती हैं,—आवश्यकता पैदा करती हैं और उन्हीं आवश्यकताओंके अनुकूल किसी नवीन अवयवकी सृष्टि हो जाती है। आवश्यकता अवयवोंका विकास करती है और आदत या अभ्यासद्वारा उन विकसित अवयवोंकी वृद्धि होती है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि केवल वह आवश्यकता ही किसी नवीन अवयवकी सृष्टि कैसे कर सकेगी? आवश्यकता दो तरहकी हो सकती है, एक स्वयंवेद्य और दूसरी अस्वयंवेद्य। यदि परिस्थितियोंद्वारा पैदा की गई आवश्यकता स्वयं ही अस्वयंवेद्य है, तब तो वह किसी अङ्ग या अवयवको तो क्या किसी प्रयत्न या चेष्टाको भी जन्म नहीं दे सकती। हाँ, यदि वह आवश्यकता स्वयंवेद्य है, तब इतना अवश्य है कि यह आवश्यकता किसी प्रकारके प्रयत्नको पैदा कर सकेगी, परन्तु उस प्रयत्न और इस आवश्यकताका सम्मिश्रण किसी अभूतपूर्व अवयव या अंगकी उत्पत्ति कर सकेगा, यह नहीं कहा जा सकता और फिर वह भी उस अवयवके उपयुक्ततम स्थलपर। लेमार्कके सामने भी यह समस्या उपस्थित हुई और उसने स्वयं स्वीकार किया है कि किसी अनुभव या परीक्षणके द्वारा तो वस्तुतः यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि आवश्यकता या प्रयत्न किसी नवीन अवयवकी उत्पत्ति या विकास कर सकेंगे। तब फिर उसने अपने इस सिद्धान्तका स्थापन क्यों किया? इसके उत्तरमें लेमार्कने कहा है कि हम अपने अनुभव-

द्वारा यह तो देखते हैं कि आदत या अभ्यासके द्वारा अनेक अवयवोंकी वृद्धि हो जाती है। अर्थात् किसी एक अवयवसे जो कुछ भी काम लिया जाता है कालान्तरमें उस कार्यमें उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है और फिर उस अवयवद्वारा निर्दिष्ट कार्य होनेमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती। साथ ही उस अवयवके आकार-प्रकार और परिणाममें कुछ वृद्धि हो जाती है। अभ्यास या आदतकी इस शक्तिद्वारा ही हम यह परिणाम निकालते हैं कि जिस प्रकार उससे किसी अंगकी वृद्धि हो सकती है, उसी प्रकार किसी नवीन अङ्गकी उत्पत्ति भी हो सकती है। परन्तु यदि ज़रा गहरी दृष्टिसे देखा जाय, तो इन दोनों स्थितियोंमें बहुत भेद है। एक ओर उसका सम्बन्ध उस चीज़से है जिसकी सत्ता पहलेसे मौजूद है और दूसरी ओर उस आवश्यकताको सर्वथा नवीन—पहलेसे एकदम असत्—एक अभूतपूर्व वस्तुकी सृष्टि करनी है और वह भी एक विशेष स्थलपर जहाँ कि वह संसारकी जद्दो-जहद—इस जीवन-संग्राम—में उसके लिए सबसे अधिक उपयोगी हो सके। हम यह स्वीकार करते हैं कि आदत या अभ्यास किसी अवयवकी शक्ति और उसके आकार-प्रकारमें अवश्य वृद्धि कर सकता है; फिर भी यह नहीं कहा जाता और न देखा ही जाता है कि वह अभ्यास उसकी वास्तविक बनावटमें कोई अन्तर कर देता है।

फलतः लेमार्कके सिद्धान्तका दूसरा अंश भी तर्ककी कसौटीपर पूरा नहीं उतरता। उसके भीतर दोष—ऐसे दोष जिनका परिहार हो ही नहीं सकता—मौजूद हैं। इसलिए लेमार्कके उस परिस्थितिवादके दोनों अंश दूषित हैं, असन्तोषजनक हैं। यही परिस्थितिवाद अन्तिम समयमें डार्विन भी कबूल कर चुका था, इसलिए यद्यपि परिस्थिति-

वादकी इस आलोचनाके बाद उसके मौलिक आकस्मिक-भेद-वाद-पर कुछ लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; फिर भी हम कुछ पंक्तियोंमें उसपर भी प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

डार्विनका अपना मौलिक सिद्धान्त 'अ' से 'ह' तक सर्वांशमें आकस्मिकतापर आश्रित है। आकस्मिक शब्दका प्रयोग भारतीय दार्शनिक साहित्यमें भी हुआ है। पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही साहित्योंमें उसका एक ही अर्थ है और वह यह कि विना किसी कारणके कार्यका उत्पन्न हो जाना। भारतीय दार्शनिकोंके सामने नास्तिक-जगत्की ओरसे जब संसारकी उत्पत्तिका हल 'आकस्मिक-वाद' द्वारा किया गया, तो उन्होंने उसकी आलोचनामें अन्यान्य हेतुओंके साथ यह भी लिखा कि 'अतोऽकस्मान्निवर्त्यमानं पुनर्निर्वत्स्यति'। जिस वस्तुकी उत्पत्ति आकस्मिक शैलीपर हुई है, वह तो एक ही वार पैदा हो सकेगी, यह तो आवश्यक नहीं कि उस प्रकारका अवसर सदैव उपस्थित होता रहे। फिर उसके नाशका भी तो ठिकाना नहीं। यदि वस्तुकी उत्पत्ति सकारण होती, तब तो कारण-नाशसे कार्यका नाश हो सकता था; परन्तु कारणरहित किसी वस्तुका नाश कैसे हो सकेगा? इन सब सामान्य दोषोंको छोड़ते हुए हमें डार्विन-सिद्धान्तके मूल स्वरूपपर एक वार फिर दृष्टि डाल लेनी चाहिए। आकस्मिक-भेद-वादसे डार्विनका आशय है कि किसी प्राणीमें अकस्मात् कोई भेद (उदाहरणके लिए रंग-संबन्धी भेद) पैदा हुआ, फिर सन्तति-संक्रान्तिके द्वारा वह विशेषता पीढ़ी दर पीढ़ी विकसिततर होती जाती है और अन्तमें इसी विकासके कारण एक सर्वथा नवीन जातिकी उत्पत्ति हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टिसे भी और लौकिक दृष्टिसे भी यह सरलताके साथ कहा जा सकता है कि किसी विशेषताके सन्ततिमें संक्रान्त

होनेके लिए यह आवश्यक है कि वह विशेषता माता-पिता दोनोंमें पाई जाय। ऐसी अवस्थामें एक प्राणीमें विशेषता पैदा होनेके बाद यदि उसे उसी प्रकारकी अपनी सहधर्मिणी भी उपलब्ध हो सकी, तब तो वह विशेषता सन्ततिमें जाकर विकसिततर हो सकेगी; परन्तु यदि उसकी सहधर्मिणी विभिन्न-गुणोंवाली हुई, तो प्रथम तो उस विशेषताका पुत्रमें संक्रान्त हो सकना ही दुष्कर है और यदि यथा-कथंचित् हो भी सकी, तो उसका आगे बढ़ सकना और भी दुःस्साध्य है। इस आकस्मिक भेदके सन्ततिमें संक्रान्तिके लिए पीढ़ी दर पीढ़ी तक समान धर्मवाले स्त्री और पुरुषके सहयोगकी आवश्यकता अनिवार्य है, परन्तु इस आवश्यकताकी पूर्ति क्या जड़-प्रकृतिके अन्ध परिवर्तन कर सकेंगे? इस पीढ़ीमें संयोगवश तुल्यधर्मवाले पति-पत्नीकी यदि उपलब्धि हो भी सकी, तो क्या अगली पीढ़ीमें भी वह अन्ध संयोग फिर उसी प्रकारके समानधर्मी दो प्राणियोंको मिला सकनेमें समर्थ हो सकेगा? यदि ऐसा सम्भव हो, तो उसे संयोगका भाग्य ही कहना चाहिए। परन्तु यह अद्भुत संयोग सदैव हमारा साथ दे सकेगा, ऐसी गवाही हमारा मस्तिष्क नहीं दे रहा है।

फलतः उत्क्रान्तिवादकी आलोचनाके उपसंहारमें सिर्फ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि लाप्लासका नैबुला और प्रकृतिकी अन्ध-गति न तो उस व्यवस्था एवं स्थिरताको जन्म दे सकती है और न उस सौन्दर्यको पैदा कर सकती है जिसकी आवाज़ प्रकृतिकी दरो-दीवारसे आ रही है। यह व्यवस्था, यह स्थिरता और सौन्दर्य ऐसे हैं जिनकी एक मीठी मुस्कान संसारमें तुच्छसे तुच्छ पदार्थके भीतर दिखाई देती है और यही वह मृदुल मुस्कान है जो उत्क्रान्तिवादके उछलते कलेजेपर जहरीली छुरी फेर रही है—

"यह वह दुश्मन हैं जो हँस हँसके दग़ा देते हैं।"

सप्तम परिच्छेद

विश्वका विकास और विलय

सांख्य-सिद्धान्त

पिछले परिच्छेदोंमें हमने जिस उत्क्रान्तिवादकी आलोचना की है, उसका उदय भी पश्चिममें हुआ और उसका अस्त भी अन्तको पश्चिममें ही हो गया। आज पश्चिममें भी उस पुराने उत्क्रान्तिवाद-की आवाज़में ज़ोर नहीं दिखाई देता और सन् १९१४ के वैज्ञानिक सप्ताहने तो एकदम Out of Date कहकर उसका वहिष्कार कर दिया। आज उस सिसकते हुए मृतःप्राय उत्क्रान्तिवादकी दिल मसोस डालनेवाली दर्दभरी आह रह रह कर सुनाई दे जाती है, मानों वह कह रहा है—

> मेरा रूपो रङ्ग विगड़ गया,
> मेरा वक्त मुझसे विछुड़ गया,
> जो शज़र ख़िज़ांसे उजड़ गया,
> मैं उसीकी फस्ले वहार हूँ।

मगर अपने 'वक्त'में इस उत्क्रान्तिवादने योरापमें एक तहलका मचा दिया था। चारों ओर इसहीकी चहल पहल थी। अपने विलकुल प्रारम्भिक समयसे ही उत्क्रान्तिवादने ईसाई धर्मकी जड़ खोदना प्रारम्भ कर दिया था। ईसाई धर्मका वह प्राचीन भव्य भवन इसकी तूफ़ानी टक्करोंको सहन न कर सका और अन्तमें सन्

१९०० में हैकलकी विश्वविख्यात पुस्तक 'दि रिडल आफ दि यूनीवर्स' The Riddle of the Universe के प्रकाशनके साथ ही हज़ारों वर्षका वह प्राचीन प्रासाद धड़-धड़ाहटक साथ गिर पड़ा और ज़मीं दोज़ हो गया। योरोपीय जगत्के धार्मिक और वैज्ञानिक दलमें बड़ी कशमकश हुई है। इस जद्दो-जहदका क्षेत्र सैद्धान्तिक विवेचनाके पथका भी अतिक्रमण कर क्रियात्मक जीवन तक पहुँच गया था। शक्तिशाली धर्माचार्योंने वैज्ञानिक तथ्यों-के अनेक अन्वेषणकर्त्ताओंको केवल इस लिए कि उनके अन्वेषण बाइबिलकी घटनाओंके विपरीत पड़ते थे, बड़ी क्रूरताके साथ मरवा दिया। इन नृशंस हत्याओंने ईसाई धर्मका इतिहास कलंकित कर रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय धर्म और विज्ञान एक दूसरेके जानी दुश्मन हो चुके थे, उनका एक साथ समन्वय असम्भव था—

हम और रक़ीब दोनों, पकजां बहम न होंगे।
वह होंगे हम न होंगे, हम होंगे वह न होंगे॥

यह उत्क्रान्तिवादका योरोपीय पहलू था।

भारतवर्षके दार्शनिक क्षेत्रमें भी उत्क्रान्तिवादका विकास हुआ है, परन्तु हमारी दृष्टिमें उसे इतनी अधिक विरोधिनी भावनाओंका शिकार नहीं बनना पड़ा है। भारतीय दार्शनिकोंने अधिकांशमें विश्व-विकासकी समस्याका हल उत्क्रान्तिवादके द्वारा किया है। सांख्या-चार्योंने जिस शैलीपर विश्व-विकासका प्रतिपादन किया है, वह धार्मिक और दार्शनिक दोनों साहित्योंमें मान्य समझी गई है। यद्यपि वेदान्त-की दृष्टिसे उस विकास-क्रमके एक कदम पीछे हटनेकी आवश्यकता

है, मगर उस एक कदमके बाद सांख्य और वेदान्त बराबर कदम मिलाये जा रहे हैं। अन्य भी किसी सम्प्रदायके साथ यदि सांख्यीय विकास-क्रमका भेद पड़ता या पड़ सकता है, तो उसी प्रारम्भिक पदमें, उसके आगे तो लगभग सारा दार्शनिक और धार्मिक साहित्य एक स्वरसे सांख्यकी हाँमें हाँ मिला रहा है।

सांख्यके अनुसार इस विश्वका विकास एक व्यापक, निरवयव और अव्यक्त प्रकृतिसे हुआ है। यह प्रकृति अपने कार्यमें स्वतंत्र है, उसके ऊपर किसी दूसरेका वास्तविक आधिपत्य नहीं है। उसके कार्यारम्भ-के लिए प्रकृति-पुरुषका संयोग मात्र पर्याप्त है। सांख्याचार्योंने इस विश्वका विश्लेषण किया है और उसके परिणाम रूपमें दो अन्तिम मौलिक तत्त्वोंको स्वीकार किया है। संसारकी समग्र चेतन-सत्ता एक ओर है और दूसरी ओर है विश्वकी अचेतन-सत्ता। इस चेतन-सत्ताका नाम सांख्यकी परिभाषामें 'पुरुष' रक्खा गया है और अचेतन-सत्ताके लिए उस शास्त्रमें प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इस अचेतन-सत्ता प्रकृति, प्रधान या अव्यक्तसे ही इस विश्वका विकास होता है और अन्तको इसीमें उसका विलय भी हो जाता है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

अर्थात् सृष्टिकालके आनेपर अव्यक्त प्रकृतिसे ही इस व्यक्त विश्वका विकास हो जाता है और प्रलयके समय उसी अव्यक्तमें फिर उसका विलय हो जाता है।

सांख्याचार्योंकी दृष्टिमें इस अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्ति या विकास-

के लिए किसी अन्य नियन्ताकी अपेक्षा नहीं है। अव्यक्त स्वयं अपने-में पूर्ण और स्वतंत्र है। वह स्वयं इस विकासमें प्रवृत्त होता है पुरुष-के मोक्ष-साधनके लिए। जैसे जड़—अचेतन—दुग्ध माँके स्तनों-में बच्चेके जन्मसे पहले स्वयं ही आ जाता है, उसके लिए किसी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार अचेतन प्रकृतिके भीतर पुरुष-विमोक्षके लिए स्वयं ही प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति किसी कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं करती—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

इस प्रवृत्तिके लिए प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध मात्र पर्याप्त है, जिस सम्बन्धको मिटाकर मुक्तिका साधन अव्यक्तका सर्ग कर सके। परन्तु वेद, उपनिषद् और गीता आदि ग्रन्थोंने इस प्रकृतिकी प्रवृत्तिसे पहले एक अवस्था और बताई है—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"

अर्थात् आदिमें समस्त जगत्का नियामक एक हिरण्यगर्भ परमात्मा था और उस परमात्माके द्वारा ही सृष्टिका विकास हुआ। इसी भावको गीताके शब्दोंमें यों कहा जा सकता है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

फलतः भारतीय साहित्यका दूसरा विचार यह है कि अव्यक्तसे व्यक्त जगत्के विकसित होनेके पहले उसमें एक परमात्माकी प्रेरणाकी आवश्यकता है, जिसे आस्तिक दर्शनकार 'ईक्षण' शब्दसे निर्दिष्ट करते हैं। इतने अंशमें मतभेदके रहते हुए भी इसे हम सांख्यके मूल प्रस्तावमें एक संशोधन मात्र कहना चाहते हैं। इतने संशोधनके साथ

सांख्यके मूल प्रस्तावका शेष सारा अंश ज्योंका त्यों लगभग एक मतसे सारे धार्मिक और दार्शनिक संसारको स्वीकार है, ऐसा किसी हद तक कहा जा सकता है।

इसके आगे जो विकास-प्रक्रिया दी गई है, उसको सांख्यके अपने शब्दोंमें गुण-परिणाम-वाद कहा जाता है। इसी गुण-परिणाम-वादको हम पाश्चात्य संसारके उत्क्रान्तिवादके स्थानपर अभिषिक्त करना चाहते हैं। सम्भव है कि बहुतसे विचारकोंको इससे मतभेद हो; परन्तु इस गुण-परिणाम-वादको उत्क्रान्तिवादका स्वरूप देनेसे पहले यह बात समझ लेनी चाहिए कि यह गुण-परिणाम-वाद केवल विश्व-विकास Cosmological Evolution के अंशमें ही उत्क्रान्तिवादके साथ टक्कर खा सकेगा। Biological Evolution प्राणि विकासके सम्बन्धमें सांख्यका विकास-क्रम उत्क्रान्तिवादसे किसी प्रकार सहमत न हो सकेगा। अस्तु।

गुण-परिणाम-वादके स्वरूप एवं प्रक्रियाके स्पष्टीकरणके पहले उस सबके आदि और मूल कारण अव्यक्त-प्रधान या प्रकृतिके असली स्वरूपको समझ लेनेकी आवश्यकता है। सांख्याचार्योंकी प्रकृति निरवयव, अव्यक्त और व्यापक है। संक्षेपमें उसका स्वरूप—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"

सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है। सत्त्व, रज और तम इन तीनोंकी समष्टि—वह समष्टि जिसमें विषमताकी उत्पत्ति नहीं हुई है—प्रकृति शब्दसे कही जाती है, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। प्रकृत प्रसंगमें प्रयुक्त हुआ 'गुण' शब्द बहुधा भ्रामक हो जाता है। साधारणतः लोकमें भी और दार्शनिक परिभाषामें भी 'गुण' शब्द द्रव्यमें रहनेवाले किन्हीं धर्मोंके लिए प्रयुक्त होता

है; परन्तु सांख्यके यह सत्त्व, रज और तम उस प्रकारके गुण नहीं हैं। इनका आश्रय इनसे भिन्न कुछ और हो, ऐसा सांख्यको अभीष्ट नहीं। यह कहा जा सकता है कि सांख्यमें यह गुण शब्द अपने मुख्यार्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है। इस बातको सांख्य-कारिकाके व्याख्याता स्वयं वाचस्पति मिश्रने भी 'गुणाः पदार्थाः' लिखकर स्वीकार किया है। मिश्रजीके इन शब्दोंका आशय यह है कि राजाओंके सर्वार्थसाधक अमात्य आदिके लिए 'गुण' शब्दका प्रयोग जिस प्रकार तात्कालिक लोकव्यवहारमें होता था, उसी प्रकार 'पुरुष' रूप राजाके भोग और अपवर्गरूप अर्थके सिद्ध करनेवाले सत्त्व आदिके लिए भी गुण शब्दका प्रयोग होता है। मिश्रजीके उपर्युक्त दोनों शब्दोंकी व्याख्यामें श्रीबाल रामोदासीनकी टीकाका यही आशय है—

यथा राज्ञः सर्वार्थनिर्वाहका अमात्यप्रभृतयो गुणा इति व्यवह्रियन्ते परार्थत्त्वात्, तथा पुरुषरूपराज्ञो भोगापवर्गरूपार्थसाधका ये सत्त्वादयस्तेऽपि परार्थत्त्वसामान्याद् गुणा इति व्यवह्रियन्ते।

पाश्चात्य विज्ञानकी भावनाओंसे प्रभावित हुए लोगोंको सांख्यके सत्त्व, रज और तमकी अपेक्षा वैज्ञानिकोंके ताप, गति और आकर्षणका रूप शीघ्र समझमें आ सकता है। पाश्चात्य विद्वान् भी सर्गके आरम्भमें ताप, गति और आकर्षणको स्वीकार करते हैं। फलतः यही त्रिगुणात्मक अव्यक्त या प्रधान है जिससे विश्वका विकास हुआ है।

हम अपने दैनिक अनुभवमें यह देख चुके हैं कि किसी कार्यके क्रियात्मक रूपमें होनेके पहले कर्त्ताके हृदयमें उस कार्यकी कर्तव्यताके सम्बन्धमें एक व्यवसायात्मक बुद्धिका प्रादुर्भाव होता है और उसके बाद ही कार्यकी क्रियात्मक रूपकी उपलब्धि संभव है। शास्त्रीय

दृष्टिसे भी—

' यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति '

कार्यका विकास होनेके पहले मनमें उसका चिन्तन होता है, इस लिए अव्यक्त प्रकृतिसे विकृतिरूप कार्य होनेके पहले भी उसके मानसिक चिन्तन या व्यवसायात्मक बुद्धिकी आवश्यकता है। इसी व्यवसायात्मक बुद्धिको जगत्के विकासमें ईश्वरीय सत्ताको स्वीकार करनेवाले 'ईक्षण' नामसे पुकारते हैं। "तदेक्षत् बहुस्यां"के शब्दोंमें उसी व्यवसायात्मक बुद्धि या उसी ईक्षणका निर्देश किया गया है, ऐसी उनकी धारणा है। सांख्यमतानुयायी तो प्रकृतिको स्वतंत्र मानते हैं और उसीसे विश्वका विकास हुआ है, यह उनका विश्वास है। इस लिए उनके यहाँ इस व्यवसायात्मक बुद्धिके विकासका प्रतिपादन उसी प्रकृतिमें किया गया है। अव्यक्तसे विकृति होते समय सबसे पहली विशेषता जो पैदा होती है, वह यही बुद्धि है। इसी बुद्धिको सांख्यने महान् या महत्तत्त्व शब्दसे निर्दिष्ट किया है। बुद्धिको यह नाम सम्भव है, उसके निजी महत्त्वके कारण दिया गया हो अथवा अव्यक्त प्रकृति अब बढ़ने लगी है, इस लिए उसको महान् शब्दसे कहा हो। जो कुछ भी हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि विकृति होनेके पहले प्रकृतिके भीतर एक व्यवसायात्मक बुद्धि पैदा हुई। एक बात जो इस व्याख्याके साथ खटकती है यह है कि प्रकृति तो अचेतन है, उस अचेतन प्रकृतिमें व्यवसायात्मक बुद्धि कैसे पैदा हो सकेगी? सांख्य-फिलासफीकी इस व्याख्याके विधाता जिसका कि अवलम्बन हम कर रहे हैं, लो० तिलकने इस प्रश्नका भी उत्तर देनेका

-यत्न किया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके अनुसार जड़-परमाणुओंके भीतर भी एक प्रकारकी बुद्धि होती है। विना इस अनुभूति या बुद्धिके द्रव्यों-की रासायनिक प्रीति या अप्रीतिका उपपादन न हो सकेगा—

Without an assumption of an atomic soul the commonest and the most general phenomena of Chemistry are inexplicable. Pleasure and pain, desire and aversion, attraction and repulsion must be common to all atoms of an aggregate, for the movements of atoms which must take place in the formation and dissolution of a chemical compound can be explained only by attributing to them *Sensation and will.*

—Haeckel

हैकलके इन शब्दोंमें उसी बुद्धि Atomic Soul की आवश्य-कता प्रतिपादन की गई है। उसके स्वीकार किये बिना रासायनिक विज्ञानकी साधारणसे साधारण बातका भी स्पष्टीकरण असम्भव है। फलतः जब आज पाश्चात्य विज्ञानके शब्दोंमें जड़ परमाणुओंके भीतर एक प्रकारकी बुद्धि स्वीकार की जा चुकी है, तब सांख्यके सत्त्व, रज और तमरूप जड़ प्रकृतिके भीतर व्यवसायात्मक बुद्धिका आविर्भाव हुआ, यह सिद्धान्त करना असंगत क्यों कहा जायगा ? प्रकृतिकी इस बुद्धिमें और हमारी बुद्धिमें केवल इतना अन्तर कहा जा सकता है कि हमारी बुद्धिके साथ चेतन-सत्ता पुरुषका सम्बन्ध है, इस लिए उसका अनुभव हो जाता है या वह स्वयंवेद्य है; परन्तु जड़ प्रकृति-की व्यवसायात्मक बुद्धि चेतन-सम्बन्ध न होनेसे अस्वयंवेद्य ही रह जाती है। इसके अतिरिक्त व्यवसायात्मक बुद्धिका स्वरूप जड़

प्रकृति और चेतन प्राणियोंमें उभयत्र समान ही है। स्वयं मूल प्रकृति अव्यक्त है, एक है और निरवयव है। इस व्यवसायात्मक बुद्धिके विकासके साथ ही उसमें एक प्रकारकी व्यक्तता आने लगती है, इसी लिए उसे महान् शब्दसे भी कहा गया है। परन्तु यह व्यक्तत्व केवल अव्यक्त प्रकृतिकी अपेक्षासे है, अन्यथा सूक्ष्मताकी दृष्टिसे अभी कोई विशेष भेद-भावना उत्पन्न नहीं हुई, साथ ही प्रकृतिकी निरवय-वता भी अबतक अक्षुण्ण बनी हुई है।

इस प्रकार महत्तत्त्वके विकास होनेके साथ ही प्रकृतिके अनेक भावात्मक विभागकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अब तक प्रकृति एक थी—निरवयव थी। भेद-भावना हुए बिना एकसे अनेककी उत्पत्ति कैसे होगी, इसलिए एक प्रकृतिमें भेद-भावनाके विकासकी आवश्यकता है, उसके बिना अनेक नामरूपात्मक जगत्का विकास न हो सकेगा। अपने लौकिक अनुभवमें हम देखते हैं कि भेद-भाव-नाका मोटा रूप मेरा तेरा है। मैं-तू और मेरा-तेराके भीतर संसारकी सारी भेद-भावनाओंका अन्तर्भाव हो जाता है। इस मैं-तूकी उत्पत्ति-का श्रेय एक मात्र अहंमन्यताको है। दूसरे शब्दोंमें अहम्मन्यता ही भेद-भावकी जननी है। अर्थात् अहम्मन्यता कहें या भेद-भावना कहें, इसकी उत्पत्तिसे ही एक प्रकृतिमें अनेकत्वका विकास हो सकेगा। यह अहम्मन्यता बुद्धिका कार्य है, अत एव बुद्धिके बाद इस अहं-मन्यता या अहंकारहीका विकास हो सकता है। इसी लिए सांख्या-चार्यने लिखा है—

'प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः'

प्रकृतिसे महत्तत्व—बुद्धिका विकास हुआ और महत्तत्वसे अहङ्कार-

की उत्पत्ति हुई । अर्थात् इस अहङ्कारकी उत्पत्तिके साथ ही एक प्रकृतिमें अनेकत्व और निरवयव प्रकृतिमें सावयवत्वकी उत्पत्ति हो गई है । महत्तत्वके विकासके साथ प्रकृतिके अव्यक्तत्वके स्थानपर व्यक्तत्वकी उत्पत्ति हुई है, तो अहङ्कार-विकाससे प्रकृतिकी एकता भंग होकर अनेकताकी उत्पत्ति हो गई है, परन्तु सूक्ष्मता अभी ज्योंकी त्यों बनी है ।

अहङ्कार या भेद-भावनाके विकासके बाद सूक्ष्म रूपमें इस अनेक नामरूपात्मक विश्वका विकास आरम्भ होता है । इस संसारका स्थूल दृष्टिसे यदि विश्लेषण किया जाय, तो उसमें दो प्रकारके पदार्थ मिलेंगे । एकको हम सेन्द्रिय-जगत् और दूसरेको निरिन्द्रिय-जगत्के नामसे कह सकते हैं । पहलेके भीतर मनुष्य आदि समग्र प्राणियोंका अन्तर्भाव हो सकेगा, जो इन्द्रियोंसे युक्त हैं और दूसरी श्रेणीमें इन्द्रिय-रहित शेष विश्वका परिगणन हो जायगा । इनमेंसे सेन्द्रिय-जगत् तीन भागोंमें विभक्त है । एक उसका स्थूल देह जो जड़ है, दूसरी उसके साथ सम्बद्ध चेतन-सत्ता और तीसरी इन्द्रियाँ । इन्द्रियोंसे यहाँ केवल इन्द्रियोंकी शक्तिका ग्रहण है, इन्द्रिय-गोलकोंका नहीं । इन तीनोंमेंसे स्थूल देहका—जिसके भीतर शक्तिरहित इन्द्रिय-गोलक भी सम्मिलित हैं—अन्तर्भाव भी निरिन्द्रिय-जगत्में किया जा सकता है । ऐन्द्रियक-जगत्में केवल इन्द्रिय-शक्तिका ही प्रयोजन है । और तीसरी चेतन-सत्ता इन दोनों प्रकारके जगत्से भिन्न है । इनमेंसे चेतन-सत्ता तो स्वयं नित्य कूटस्थ है । उसका विकास तो न होता है और न उसकी आवश्यकता है । शेष अंश वही दो रह जाते हैं, एक इन्द्रियाँ और दूसरा निरिन्द्रिय-जगत् । फलतः अहंकी भेद-भावनाके

वाद विश्व-नानात्वके रूप, मूलरूप इसी द्विविध जगत्के विकासका प्रयोजन है और सांख्य सिद्धान्तके अनुकूल हुआ भी वस्तुतः ऐसी ही है।

अहंकारसे दो तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है—

'अहङ्कारात्पंचतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियम्'

एक पंचतन्मात्राएँ और दूसरी एकादश इन्द्रियाँ। पंचतन्मात्राएँ निरिन्द्रिय-जगत्की उपलक्षण या मूल कारण हैं और उभयमिन्द्रियम्के द्वारा इन्द्रिय-जगत्की उत्पत्तिका निर्देश सूत्रकारने किया है। तन्मात्रा शब्दसे पंच सूक्ष्मभूत या रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और शब्दतन्मात्रका ग्रहण होता है। ये ही तन्मात्राएँ स्थूल भूतोंका आदिम स्वरूप है। पंचभूत त्रिवृत्करण या पंचीकरण-द्वारा तयार हुए इन्हीं पंचतन्मात्राओंके सम्मिश्रणका नाम है। अर्थात् उपलब्ध होनेवाले स्थूलभूत वस्तुतः अपने शुद्ध स्वरूपमें नहीं बल्कि एक मिश्रित रूपमें ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु उस मिश्रणके तैयार होनेसे पहले मिश्रणके अवयव विशुद्ध पदार्थोंकी आवश्यकता है, उनके बिना यह मिश्रण कैसे तय्यार हो सकेगा? इसी विशुद्ध स्वरूपके उपपादनके लिए सांख्यने पंचतन्मात्राओंको स्वीकार किया है। इन्हीं पंचतन्मात्राओंके भीतर समग्र निरिन्द्रिय-जगत् समा जाता है।

न केवल सांख्यने ही बल्कि भारतके समग्र दार्शनिक और धार्मिक साहित्यने जगत्के मूलरूपमें पंचमहाभूतोंकी कल्पना की है और इन्हीं महाभूतोंको मौलिक तत्त्व माना है। इस सम्बन्धमें पूर्व और पश्चिममें बड़ा भेद है। पाश्चात्य वैज्ञानिक आजतक मौलिक तत्त्वोंके सम्बन्धमें अपना अन्तिम निर्णय नहीं दे सके हैं; परन्तु भारतके दार्शनिक क्षेत्रमें

पंचभूतोंकी कल्पना शायद एक अज्ञात अतीतसे चली आ रही है और साहित्यके प्रत्येक क्षेत्रमें उसने ऊँचा स्थान पाया है। भारतीय पंचभूतोंकी कल्पनामें उपपत्ति भी जबरदस्त है। यदि हम अपने निजी अनुभवका विश्लेषण करें, तो उसके परिणाम सम्भवतः पाँच प्रकारके अनुभव मिलेंगे, जिनमें प्रत्येक अनुभव विभिन्न प्रकारसे होता है। कोई अनुभव आँखद्वारा होता है, किसीका जन्म कानसे होता है, तीसरेका कारण शायद त्वचा है, चौथेकी उत्पत्ति नासिकासे होती है और पाँचवें प्रकारका अनुभव हमारी रसनासे पैदा होता है। इस प्रकार पाँच विभिन्न इन्द्रियोंद्वारा पाँच प्रकारकी प्रतीति हमें उपलब्ध होती है। यही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे देहमें प्रतीत होती हैं। इनके अतिरिक्त और कोई इन्द्रिय अथक प्रयास करनेपर भी शायद हमें उपलब्ध न हो सकेगी। साथ ही एक बात और है और वह है इन्द्रियोंका पातिव्रत्य। एक इन्द्रियका सम्बन्ध एक विषयके साथ ही हो सकेगा। दूसरे विषयकी कामना कर सकना उसके लिए स्वप्नमें दुर्लभ है। चक्षु रूपको ग्रहण करेगी, हजार प्रयत्न करनेपर भी रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शके साथ चाहे वह कितने ही आकर्षक, सुन्दर और अलौकिक हों, संबन्ध करनेको तैयार न होगी। इसके विरुद्ध चाहे कितना ही भद्दा रूप उसके सामने लाकर रख दो वह एक आदर्शकी तरह आगे बढ़ेगी और बड़ी दृढ़ताके साथ उसका ग्रहण करेगी, उसी असाधारण अदाके साथ जो उसकी अपनी विशेषता है। चक्षुः ग्रहण करेगी, तो रूप—केवलरूप—को। अगर रूप न मिलेगा तो अपनी उसी आनपर जान दे देगी; मगर मजाल कि किसी औरपर मन चला तो जाय। मानो गर्वसे माथा उठाये कह रही है—

'गंगाम्भःविशता मया निजकुले किं स्थाप्यते दुर्यशः ?

ठीक यही बात ज्योंकी त्यों शेष इन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। फलतः हमारे पास पाँच—केवल पाँच—ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वह भी ऐसी हठीलीं कि एकके सिवाय दूसरे विषयको ग्रहण नहीं करतीं। इसका अर्थ यह है कि हम समग्र संसारको इन पाँच ही प्रकारसे समझ सकते हैं। अर्थात् समग्र ज्ञेय विश्व इन्हीं पाँच भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। शेष विश्वका विभाग किसी भाँति भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दकी सीमाको पार करके नहीं जा सकता।

अर्थात् समग्र विश्वका अन्तर्भाव इन पाँच और केवल इन्हीं पाँचके भीतर हो जाता है। अपने शुद्ध स्वरूपमें यही पाँचों तन्मात्रा शब्दसे कहे जाते हैं और परस्पर सम्मिश्रणके बाद वही पंचमहाभूतोंके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार अन्तमें यह कहा जा सकता है कि भेदभावनाके बाद विविध जगत्‌के मूल रूपमें इन्द्रियों और तन्मात्राओंके अतिरिक्त किसी औरकी उत्पत्ति युक्तिके दरबारमें सम्भव ही प्रतीत नहीं होती। इसी लिए तो सांख्य सिद्धान्तने अहङ्कारसे दो—केवल दो—की उत्पत्तिका निर्णय किया है।

अहंकारसे विकसित हुई पंचतन्मात्राओंका चरम विकास पंच महाभूतोंमें समाप्त होता है और उसके साथ ही सांख्यका विकासक्रम भी समाप्त हो जाता है। सांख्यने अव्यक्त प्रकृतिसे प्रारम्भ कर अन्तमें उसे पंच महाभूतोंके विकसिततम स्वरूप तक पहुँचा दिया। इसके आगे सांख्य चुप है। परन्तु जहाँ सांख्य-क्रमका अन्त हुआ है, वहींसे वस्तुतः नैयायिकके विकासका प्रारम्भ होता है। पंचभूतोंके परमाणुओंमें ही सांख्यीय विकासका अन्त और

नैयायिकके विकासका आरम्भ हुआ है। इसलिए आगेकी प्रक्रियाके लिए हमें विवश होकर न्यायका आश्रय लेना पड़ेगा। सांख्यद्वारा उसका हल स्पष्टता और स्वारस्यके साथ मुश्किलसे हो सकेगा।

इस प्रकार अव्यक्त प्रकृतिसे लेकर सांख्यीय विकासकी चरम सीमा पंचभूतों पर्यन्त जिन तत्त्वोंकी क्रमशः उपलब्धि हुई है, उनकी संख्या २४ है—

१ अव्यक्त
१ महान्
१ अहंकार
५ तन्मात्रा
११ इन्द्रियाँ
५ महाभूत

इनके अतिरिक्त एक चेतन-सत्ता और है जिसे सांख्यने पुरुष शब्दसे कहा है। इस प्रकार सांख्य सिद्धान्तके अनुसार यह २५ पदार्थ अभीष्ट हैं। इनमें प्रथम अव्यक्त समग्र संसारकी प्रकृति है, वह नित्य है। उसकी उत्पत्ति किसीसे नहीं हुई, इसलिए वह किसीकी विकृति नहीं। अन्तिम पुरुष सांख्य सिद्धान्तके अनुसार उदासीन है, वह न किसीकी प्रकृति और न किसीकी विकृति। शेष २३ पदार्थ दो भागोंमें विभक्त हैं। पहले सात (महत्, अहङ्कार और पंच तन्मात्रा) एक ओर और अन्तिम सोलह (११ इन्द्रिय+५ भूत) दूसरी ओर। पहले वर्गके सात पदार्थ यदि स्वयं एक तत्त्वकी विकृति है, तो उसके साथ ही दूसरे तत्त्वकी प्रकृति भी है। इसलिए उनका वर्गीकरण 'प्रकृति-विकृति' नामक शीर्षकके नीचे किया गया

है। शेष १६ पदार्थोंको केवल विकृति समझा गया है। यद्यपि पंचभूतोंसे नाना प्रकारके पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है, फिर भी उनसे किसी नवीन तत्त्वकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए उन्हें किसीकी प्रकृति होनेका गौरव प्राप्त नहीं है, उनकी गणना केवल विकृतिमें की गई है। संक्षेपमें इस सारे वर्गीकरणका संग्रह एक कारिकामें इस प्रकार किया गया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

पाश्चात्य विज्ञान अभी विकास-क्रमपर आगे बढ़ता जा रहा है। उसके अन्वेषणोंका अन्त अभी नहीं हुआ है; फिर भी डार्विन और लाप्लासका विकासक्रम कमसे कम विज्ञानके शब्दोंमें Out of Date करार दिया जा चुका है। परन्तु पाश्चात्य उत्क्रान्तिवादकी इस प्रबल पराजयके बाद भी हम तो यही कहेंगे—

फ़तह व शिकस्त नसीबोंकी है वले ए मीर।
मुक़ाबला तो दिले नातवाँने खूब किया॥

इसके विरुद्ध सांख्यका विकास-क्रम भारतीय दार्शनिक-क्षेत्रमें सुदूर अतीतसे अटल पर्वतकी नाईं स्थिर है। मानो कह रहा है—

हज़ार दामसे निकला हूँ एक जुम्बिशमें।
जिसे गुरूर हो आये करे वह क़ैद मुझे॥

द्वितीय खण्ड

मैं ?

हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर, और अन्य विविध प्राणियोंके भीतर एक चेतन-सत्ताका अनुभव करता है। यही चेतन-सत्ता प्राणि-जगत् और जड़-जगत्को पृथक् करती है। इसीके कारण ही प्राणियोंके भीतर इच्छा, द्वेष प्रयत्न, ज्ञान और सुख-दुःखकी अनुभूति पाई जाती है। साधारणतः 'जीवात्मा' शब्दके द्वारा इसका निर्देश किया जाता है। इस द्वितीय खण्डमें इसी 'जीवात्मा' विषयपर अस्तिक-नास्तिक विचारोंका संग्रह एवं अलोचना हुई है। खण्डके अन्तमें जीवात्मासे अत्यन्त सम्बद्ध कर्मवाद और पुनर्जन्मके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंकी आलोचना हुई है।

अष्टम परिच्छेद

चार्वाक-दर्शन

भारतके दार्शनिक साहित्यमें चार्वाक-दर्शन बहुत बदनाम हो चुका है। आस्तिक आलोचकोंने उसके लिए प्रायः 'नास्तिक-शिरोमणि'की उपाधि रिज़र्व कर रक्खी है। चार्वाक शब्दका अर्थ है 'चारू रमणीयो वाक् उक्तिर्यस्य स चार्वाकः'। जिसकी उक्ति—जिसके शब्द—सुननेमें बड़े सुन्दर प्रतीत हों, उसके लिए चार्वाक शब्दका प्रयोग हो सकता है; परन्तु अब यह शब्द एक विशेष प्रकारके विचार रखनेवाले लोगोंके लिए रूढ हो गया है। प्राचीन प्रवाद-परम्परासे प्रतीत होता है कि इन विचारोंका प्रथम प्रचारक चार्वाक नामका एक व्यक्ति था, पीछे उसीके नामके साथ उसके दार्शनिक विचारोंको 'चार्वाक-दर्शन' नामसे कहा जाने लगा। चार्वाकका काल और उसका जीवन-वृत्तान्त भारतके अन्याय ऐतिहासिक व्यक्तियोंकी भाँति ही अन्धकारमें है। उसके जीवनके सम्बन्धमें प्रवाद-परम्पराके द्वारा इतना ही मालूम होता है कि वह बृहस्पतिका प्रधान शिष्य था; परन्तु यह बृहस्पति कौन है, इसका कोई निर्णय ऐतिहासिक साक्षीके आधारपर कर सकना दुष्कर है। चार्वाकका असली समय क्या है, यह भी निश्चित रूपसे कह सकना कठिन है; परन्तु हाँ इस सम्बन्धमें हम कुछ अनुमान उसके लेखोंको देखकर लगा सकते हैं। प्रायः उन व्यक्तियोंकी सृष्टिका श्रेय जिन्हें आगे चलकर युगप्रवर्तक कहा

जाता है समय और परिस्थितियोंको होता है। दयानन्द, बुद्ध और ईसाकी सृष्टि किसी स्कूल या कालेजसे नहीं हुई बल्कि अपने समय और तात्कालिक परिस्थितियोंने ही मूलशंकरको दयानन्द, कुमार-सिद्धार्थको बुद्ध और ईसाको मसीह बना दिया है। इस लिए इन युग-प्रवर्तकोंके लेखों वा विचारों द्वारा तात्कालिक परिस्थितिका बहुत कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। ठीक यही बात चार्वाकके संबंधमें भी कही जा सकती है। चार्वाक भी अपने समयका एक युगप्रवर्तक हुआ है, अतः हमारे विचारमें उसकी भी गणना महा पुरुषोंमें की जानी चाहिए। यद्यपि बहुत से लोग हमारे इस विचार-को देखकर शायद चौंकें; परन्तु हम ज्यों ज्यों चार्वाकके विचारोंपर मनन करते हैं, त्यों त्यों हमारा यह विश्वास दृढ होता जाता है। यदि गीताके—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

के अनुसार कृष्ण और दयानन्द, ईसा और बुद्धके उत्पन्न होनेकी आवश्यकता थी, तो भारतके उस ऐतिहासिक युगमें चार्वाककी भी उतनी ही आवश्यकता थी जितनी अपने समयके किसी अन्य समाज-सुधारककी हो सकती है। यद्यपि हम चार्वाकके दार्शनिक विचारोंसे सहमत नहीं, फिर भी यदि उस समयकी परिस्थिति और चार्वाकके व्यक्तित्वकी तुलनात्मक आलोचना करें, तो हम देखेंगे कि उस समय चार्वाकने जो कुछ किया वही ठीक था, वही संभव था और उसीके भीतर भार-तीय समाजका यथार्थ हित निहित था। चार्वाककी प्रत्येक चेष्टा उसकी सुन्दर सद्भावनाओंका परिणाम थी। उसके मस्तिष्कमें विचार-शक्ति

थी, हृदयमें भावना एवं भावुकता और वाणीमें ज़ोर था। उस समय जब कि उसने वेदोंका खण्डन किया, उस समय जब कि उसने परलोक, आत्मा और परमात्माकी सत्तासे इन्कार किया और उस समय जब कि उसने भारतीय समाजके विधाता ब्राह्मणोंके विरोधमें आवाज़ उठाई, उसके भीतर वही पवित्र भावना काम कर रही थी जो एक भावुक डाक्टरके हृदयमें हो सकती है, जिसका दिव्य दर्शन दयानन्द और बुद्धके जीवनमें हुआ है। वेद, परलोक, आत्मा, परमात्मा और यज्ञ-यागादिके विरोधी उसके विचार ऐसे हैं जो एक भावुक और भक्त हृदयके आस्तिकको एकदम चिढ़का देते हैं। इसी लिए भारतके आस्तिक-जगत्में चार्वाककी उन सद्भावनाओंका सम्मान करनेके बदले उसे बुरे शब्दोंमें याद किया है। परन्तु किसी युग-प्रवर्तकके विरोधमें फ़तवा देनेके बदले हमें एक सरसरी नज़र उसकी परिस्थितियों और भावनाओंपर भी डाल लेनी चाहिए और एक बार यह भी विचार कर लेना चाहिए कि यदि उस स्थितिमें हम होते, तो क्या करते, साथ ही उसने जो कुछ किया उसके भीतर किस प्रकारकी भावनाएँ काम कर रही थीं। हम चार्वाकके दार्शनिक विचारोंको इसी दृष्टिसे देखनेका यत्न करेंगे।

चार्वाकके लेखोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भारतके धार्मिक जगत्में बहुतसे परिवर्तन हो चुके थे। वैदिक कर्मकाण्डका स्वरूप अत्यन्त विकृत हो चुका था। ऐसा भी माळूम होता है कि उस समय वेदार्थके सम्बन्धमें महीधरके विचारोंका प्रचार हो चुका था। यज्ञमें पशुओंको काटकर डालना एक साधारण बात थी और अश्वमेध यज्ञका वह घृणित और अमानुषीय स्वरूप भी उस समय

अभिव्यक्त हो चुका था, जो यजमानकी स्त्रीसे अश्वके साथ सम्भोग करनेको वाधित करता है। महीधरने अपने वेदभाष्यमें इस और इसी प्रकारके अन्य घृणित विचारोंका प्रकाश वेद-मंत्रोंकी आड़में किया है। यह विचार इतने भद्दे हैं कि कोई शिष्ट पुरुष तो उन्हें ज़बान-पर लाना भी कबूल न करेगा, इसी लिए स्वयं चार्वाक भी उन्हें अपनी आलोचनामें स्थान न दे सके। उन्होंने लिखा है—

अश्वस्यात्र शिश्नं हि पत्निग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भाण्डैस्तद्वदपरं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम्॥

'तद्वदपरं चैव' के शब्दोंमें चार्वाकने बहुत कुछ लिख दिया हैं, जिसे आँखें दो देखें, जिसे कान दो सुनें। महीधर-भाष्यके कतिपय नहीं अनेक स्थल हैं, उन्हें पढ़ो। मननकी आवश्यकता नहीं, केवल एक सरसरी नज़रसे ही पढ़ जाओ, फिर तुम समझोगे कि इस 'तद्वदपरं'के भीतर क्या है। उन घृणित पंक्तियोंके पढ़नेके बाद कौनसा ऐसा शिष्ट और भावुक हृदय होगा, जो उस साहित्यकी ओरसे घृणासे मुँह न फेर ले। फिर अगर चार्वाकने ही उसे 'घासलेटी साहित्य' करार दिया, तो इसमें हम उसे कहाँतक दोषी ठहरा सकते हैं! लिखनेको तो चार्वाकने लिख जरूर दिया है—

'त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्ड-धूर्त-निशाचराः

मगर उसके एक एक शब्दमें—एक एक अक्षरमें कितना मानसिक क्षोभ, कैसा भीषण अन्तस्ताप और कैसी हृदयकी व्यथा छिपी हुई है, इसे तो वही अनुभव कर सकेंगे जो एक बार ताअस्सुबको छोड़ चार्वाककी परिस्थितिपर विचार करेंगे। उसमें द्वेष नहीं है, ईर्ष्या नहीं है, मगर वह भयानक भट्टी अवश्य धधक रही है जो चार्वाकके

हृदय—भावुकतापूर्ण हृदय—को जलाये डालती है। वह देख रहा था, भारतका जनसमाज जिस अन्ध-पथपर जा रहा है, उसका असली कारण यह वेद हैं। ऐसे ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञानको दूरसे नमस्कार!! वह और कर ही क्या सकता था? उसके भीतर इतनी विद्वत्ता नहीं थी, उसकी प्रतिभा इतनी प्रचण्ड नहीं थी कि महीधरके अर्थोंकी कड़ी और प्रामाणिक आलोचना करके वेद-मंत्रोंकी युक्तियुक्त और वैज्ञानिक व्याख्या संसारके सामने प्रस्तुत कर देता। ऐसी अवस्थामें चार्वाकके लिए एक ही चारा था, उस तमाम अनर्थकी जड़ ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वर दोनोंको जलाञ्जलि दे डाले, इस लिए विवश होकर उसको वही करना भी पड़ा जिसका अवलम्बन अपनी अभीष्ट-सिद्धिका सरलतर उपाय रहनेपर शायद वह न करता। उस समय वेद और वैदिक साहित्यका स्वरूप सचमुच इतना भीषण हो उठा था कि उसकी ओर देखते रूह काँप उठती थी; इस लिए—केवल इसीलिए—हम देखते हैं कि कट्टर आस्तिक कुलमें उत्पन्न होकर गोतम बुद्धको भी वही करना पड़ा है जिसका अवलंबन चार्वाकने किया है। इस सम्बन्धमें बुद्ध और चार्वाकके विचारोंमें जो अन्तर है वह थोड़ा—बहुत थोड़ा है। और यदि दयानन्दके भीतर संस्कृत-साहित्यका प्रकाण्ड पाण्डित्य न होता, तो क्या वह भी महीधरके वेदभाष्यको देखकर वैदिक साहित्यको दूरतः प्रणाम न कर लेता? फलतः उस परिस्थितिकी आलोचना करते हुए हम कह सकते हैं कि—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥

के एक एक अक्षरका विन्यास करते समय चार्वाकके हृदयमें एक

हूल अवश्य उठी होगी, एक बार उसने मर्मान्तक हार्दिक व्यथाका अनुभव अवश्य किया होगा। मगर कर्तव्यके नामपर और समाज-हितके नामपर ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वर और उसके चट्टे वट्टे अग्निहोत्रादि सबसे नमस्कार—दूरसे नमस्कार—शतशः नमस्कार—कर लेना ही चार्वाकने उपयुक्त समझा और ऐसा करके उसने सचमुच सहृदय-ताकी, भावनाकी और भावुकताकी रक्षा कर ली है। नहीं तो हे चार्वाक! ऐसी अवस्थामें—

भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं।
निराश्रया हन्त हता मनस्विता॥

एक बात और है, समाज-हितके नामपर इतना बड़ा त्याग कर-नेके बाद भी यदि चार्वाक एक अमर आत्मा, लोक और परलोककी सत्तापर विश्वास कायम रख सकता, तो क्या उसका वह सारा प्रयास व्यर्थ न हो जाता? क्या आत्मा और परलोकके विश्वासका ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान या उसी प्रकारके किसी अन्ध विश्वासके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है? क्या एकके ऊपर विश्वासकर मनुष्यको दूसरेपर विश्वास करनेके लिए विवश न होना पड़ेगा? इसलिए पहली सत्तासे नकार करनेके आवश्यक और अनिवार्य परिणामके रूपमें ही चार्वाकको घोषणा करनी पड़ी—

'न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः'

न स्वर्ग है, न अपवर्ग है और न किसी अमर आत्माकी कल्पना की आवश्यकता है। संक्षेपमें यही सब चार्वाक-दर्शनका सार है और आगे जो कुछ है वह सब इसका अविनाभूत ही है। इन विचारोंपर विश्वास जमा लेनेके बाद फिर जब सृष्टि आदि सम्बन्धी प्रश्न उठते हैं,

तो उनका उत्तर यथासम्भव प्रकृतिके स्वभावके द्वारा दिया जाता है। पश्चिममें भी यही हुआ है और पूर्वमें भी। पाश्चात्य प्रकृतिवादी लोगोंने अपने पीछे विज्ञानका सहारा लिया है; परन्तु चार्वाक शायद आत्मविश्वासी पुरुषोंमें है। उसने अपने पीछे सहारेके लिए किसीको खड़ा नहीं किया है। उसकी तो स्पष्ट घोषणा है—

अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्..............

चार्वाकके सृष्टिसम्बन्धी विचारोंकी आलोचना हम पिछले किसी परिच्छेदमें कर चुके हैं। प्रकृत स्थलमें हम यह भी देख चुके कि किस प्रकार परिस्थितियोंसे विवश होकर चार्वाकको अमर आत्माकी सत्तासे इन्कार करना पड़ा। यह ठीक है कि उपयोगितावादकी दृष्टिसे उस समय चार्वाकने जो कुछ किया वह ठीक था; परन्तु फिर भी तर्कशास्त्र उसका समर्थन कर सकनेमें असमर्थ है। भावना और भावुकता एक चीज़ है, तर्क और युक्ति दूसरी चीज़ है। एक हृदयकी सम्पत्ति है, दूसरी मस्तिष्ककी उपज है। भावना और भावुकता तहे-दिलसे चार्वाक और उसके दार्शनिक विचारोंको दाद देती है और दे सकती है। मगर तर्कके दरबारमें उनके लिए स्थान नहीं। तर्कका शासन बड़ा कठोर है। भावुकता जैसी कोमल वस्तु उसे कैसे सहन कर सकेगी! इसीलिए हम देखते हैं कि चार्वाक दार्शनिक विचार तर्कके भीषण तापसे एक दम मुरझा गये हैं, उनमें न वह आभा ही रही है और न वह चेतना ही।

नवम परिच्छेद

चेतनोत्क्रान्ति

१९ वीं सदी योरोपीय इतिहासमें वैज्ञानिक सदीके नामसे कही जा सकती है। इस शताब्दिके भीतर योरोपमें बड़े बड़े वैज्ञानिक आविष्कार हुए या यों कहिए कि बड़े बड़े रद्दोबदल हुए। इन परिवर्तनोंने योरोपके दार्शनिक क्षेत्रमें ही नहीं बल्कि धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें भी घोर क्रान्ति पैदा कर दी। इन क्रान्तिकारी आविष्कारोंका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग वह आविष्कार हैं जिन्होंने बाइबिलकी पुरानी रूढियों और निर्बल कल्पनाओंकी नींव हिला दी। एक समय था जब कि योरोपीय मस्तिष्कके ऊपर बिबलिकल-साहित्यका अखण्ड साम्राज्य था, उस समय किसने सोचा था कि इस शक्तिशाली खुदाई खिलकतका भी पतन—घोर पतन—हो सकेगा? मगर—

फ़लक[1] मश्शक[2] है पैहम नया जलवा दिखानेमें।
ज़मीको देर क्या गुज़रे हुओंको भूल जानेमें॥

धार्मिक कट्टरताका पुराना भवन वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रबल आक्रमणोंको सहन न कर सका। बिबलिकल-साहित्यकी इस प्रबल पराजयके साथ ही साथ धर्मका साम्राज्य एवं ईश्वरका दबदबा भी दुनियासे उठ गया और उनके स्थानपर जड़वादका अभिषेक किया

---

१ आकाश। २ लगातार।

गया। योरोपकी इस प्रवृत्तिकी ओर देखते हुए ही अकबरने लिखा है—

भूलता जाता है योरोप आसमानी बापको।
बस खुदा समझा है उसने वर्क़[1]को और भापको॥
वर्क़ गिर जावेगी एक दिन और उड़ जायेगी भाप।
देखना अकबर बचाये रखना अपने आपको॥

उधर उन्नीसवीं सदीके इन विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारोंने पुरानी बाइबिलकी कमज़ोर नींवको हिला डाला, इधर डार्विनके विकास-सिद्धान्तने इस प्रपंचकी एक नवीन व्याख्या संसारके सामने प्रस्तुत की। वैज्ञानिक पक्षकी बन गई और गतानुगतिक लोकने भी विज्ञानका साथ दिया—

सबै सहायक सबलके, कोइ न निबल सहाय।
पवन जगावत आगको, दीपहिं देत बुझाय॥

मैं क्या हूँ, इस प्रश्नका उत्तर भी प्रपंचकी अन्यान्य समस्याओंकी भाँति विकास-सिद्धान्तके द्वारा ही दिये जानेका यत्न किया गया। भारतीय दार्शनिक साहित्यमें यदि चार्वाकने जीव या अमर आत्माकी सत्तासे इन्कार किया, तो पश्चिममें हैकलने भी उतनी ही दृढ़तासे अमर आत्माकी सत्तासे इन्कार किया।

हैकलका आत्म-निरूपण

चार्वाकके अनुसार आत्मा क्या है, इसका विवेचन हम पिछले परिच्छेदमें कर चुके हैं और वहाँ यह भी दिखा चुके हैं कि चार्वाकको इस विचारका प्रचार करनेके लिए क्यों बाधित होना पड़ा। साथ ही यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है कि चार्वाक-

1 बिजली।

सिद्धान्त यद्यपि उस समयके अनुकूल कहा जा सकता है, फिर भी उसे हम एक दार्शनिक तथ्य नहीं ठहरा सकते। पाश्चात्य संसारमें हैकलने जीवनकी उत्क्रान्तिके सम्बन्धमें बहुत बड़ा आन्दोलन किया है और इस सम्बन्धमें उसके विचार विशेष शृङ्खलाबद्ध पाये जाते हैं। हैकलके अनुसार किसी अमर आत्माकी सत्ता माननेकी आवश्यकता नहीं। चेतन प्राणियोंके भीतर पाये जानेवाले संवेदन, गति, प्रतिक्रिया और स्मृति आदि उन समस्त व्यापारोंका जिन्हें चेतनाका परिचायक कहा जाता है उपपादन एक मात्र विकास-सिद्धान्तके सहारे किया जा सकता है। जिस प्रकार द्रव्य-नियमके शासनमें मूल प्रकृतिसे इस विविध विश्वका विकास संभव हुआ, उसी प्रकार जीव-विकास भी एक प्रारम्भिक और सूक्ष्म अवस्थासे हुआ है। सजीव सृष्टिका विकास किस क्रमसे हुआ, इस विषयकी विस्तृत और सुसंगत आलोचना डार्विनके ग्रन्थोंमें पाई जाती है। उसी विकास-क्रमको लक्ष्यमें रखकर हैकलने संवेदन, गति और प्रतिक्रिया आदि सबको कतिपय श्रेणियोंमें विभक्त किया है और इस प्रकार यह दिखाया है कि संवेदन, गति और प्रतिक्रियामेंसे प्रत्येक अपने प्रारम्भिक रूपमें एक मात्र अचेतन रहती है, उसके बाद क्रमशः उनका परिमाण किस प्रकार बढ़ता जाता है यह डार्विनके सजीव-विकासका स्वाध्याय करनेसे बड़ी स्पष्टताके साथ प्रतीत होता जाता है। इस विकास-सिद्धान्तके साथ यदि जीवात्माके संवेदन गुणका परिचय प्राप्त करनेका यत्न किया जाय, तो उसे हम पाँच श्रेणियोंमें पायेंगे।

१—जीवन-विकासकी प्रथम अवस्था वह है जब कि Psychoplasm मनोरसके रूपमें ही संवेदनग्राही होता है, और बाह्य

जगत्‌से किसी प्रकारकी उत्तेजनाकी उपलब्धि होनेपर प्रतिक्रिया करता है। यह दशा क्षुद्र कोटिके जीवों और बहुतसे पौधोंमें पाई जाती है।

२–इसके बाद दूसरी अवस्था वह है जिसमें पूर्वापेक्षया कुछ उन्नत कोटिके अणुजीव, क्षुद्र जन्तु और पौधे पाये जाते हैं। इस अवस्थामें देहके ऊपर एक प्रकारके बिन्दुओंकी उपलब्धि होती है, जो कि वस्तुतः विषयानुभूति-शून्य होते हैं और जिन्हें हम मोटे रूपसे त्वक् और चक्षु इन्द्रियोंका पूर्वरूप कह सकते हैं।

३–संवेदन-विकासकी तीसरी श्रेणीमें उन बिन्दुओंके स्थानपर रासायनिक और भौतिक कारणोंके रूपमें विभक्त होकर अलग अलग इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, जिनमेंसे रसना और घ्राण रासायनिक प्रक्रियाओंको ग्रहण करती हैं और त्वक्, चक्षु और श्रोत्र भौतिक विषयोंको ग्रहण करती हैं।

४–इस प्रकार इन्द्रिय-विकास हो जानेके बाद चौथी अवस्था वह होती है कि जिसमें समस्त इन्द्रियोंके व्यापारों या संवेदनोंका एक स्थानपर एकत्रीकरण होता है और इस समाहारके द्वारा अन्तः-संस्कारोंकी उत्पत्ति होती है। अन्तःसंस्कार ही वस्तुतः स्मृतिके मूल आधार हैं।

५–पाँचवीं श्रेणी संवेदनकी विकसिततम अवस्था है और सजीव सृष्टिके उन्नततम प्राणी मनुष्यमें इसी कोटिका संवेदन पाया जाता है। यह अवस्था वह है जिसमें कि समस्त संवेदन 'नर्वस-सिस्टम'के केन्द्र-स्थलपर केन्द्रीभूत हो जाते हैं। यहीं मनोरसकी अन्तिम सीमा समाप्त हो जाती है।

संवेदनकी भाँति ही गति और प्रतिक्रियाको भी क्रमशः ५ और ७ श्रेणियोंमें विभक्त कर हैकलने उन्हें भी भौतिक विकासका एक परिणाम-विशेष माना है। सामान्य दृष्टिसे चेतनाके परिचायक जितने चिह्न हैं, वह सब भौतिक परिवर्तनोंके परिणाम हैं, ऐसा उसका आशय है। अपने इस सिद्धान्तके समर्थनके लिए हैकलने विज्ञानकी दुहाई दी है और डार्विनके उत्क्रान्तिवादको अपनाया है; परन्तु वस्तुतः विज्ञानकी आड़ और उत्क्रान्तिवादकी शरण लेकर हैकलने एक ऐसे सिद्धान्तका स्थापन किया है जिसका अन्तर्भाव भी विज्ञानकी सीमाके भीतर नहीं हो सकता और न उत्क्रान्तिवादका आचार्य डार्विन उसका समर्थन करता प्रतीत होता है। डार्विनने 'वर्गोंका आदिकारण' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तकके प्रथम संस्करणमें कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं—

I should infer from analogy that probably all the organic beings have descended from some one primordial form into which life was first breathed.

इस सादृश्य-परम्पराको देखकर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि सम्भवतः समस्त चेतन प्राणी किसी एक ही आदिम प्राणीसे विकसित हुए हैं जिसमें कि प्रारम्भिक जीवनका आधान किया गया था।

डार्विनकी इन पंक्तियोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वयं चेतनाको अपने विकास-क्रमका विषय न मानकर उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करता था। वह यह भली भाँति समझता था कि अचेतन प्रकृतिसे चेतनका विकास हो सकना असम्भव है, इसीलिए उसने चेतनकी पृथक् सत्ता स्वीकार करनेकी आवश्यकता अनुभव की। इस पुस्तकके द्वितीय संस्करणमें डार्विनको अपनी इन पङ्क्तियोंमें परिवर्तन करना पड़ा।

उसमें आदिम एक प्राणीके स्थानपर अनेक प्राणियोंकी उत्पत्ति उसने स्वीकार की; परन्तु फिर भी वह अंश जिसका कि प्रकृत प्रसंगमें हमें प्रयोजन है ज्योंका त्यों अक्षुण्ण बना रहा, अर्थात् इस द्वितीय संस्करणमें भी उसे अचेतनके विकास-प्रतिपादनका औचित्य प्रतीत नहीं हुआ। द्वितीय संस्करणमें परिवर्तित हुए डार्विनके शब्द इस प्रकार हैं—

There is a grandeur in this view of life having been originally breathed by the creator into a few forms or into one.

फलतः इस और इसी प्रकारके अन्याय उद्धरणोंसे यह परिणाम तो स्पष्ट निकलता है कि डार्विन सजीव सृष्टिकी उत्क्रान्तिको स्वीकार करते हुए भी उस जीवको—आत्माको—चेतनाको—अपने विकास-क्रमका विषय नहीं मानता था; बल्कि उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करता था। हैकलने डार्विनके उत्क्रान्तिकी आड़ लेकर जिस जड़वादका प्रतिपादन किया है, वह वस्तुतः डार्विनको अभीष्ट नहीं है, बल्कि यह हैकलकी स्वयं अपनी कल्पना है।

हैकलने अपनी इस कल्पनाके समर्थनके लिए विज्ञानका आश्रय लिया है; परन्तु वस्तुतः विज्ञान भी इस सिद्धान्तका समर्थन करनेमें असमर्थ दिखाई देता है। वैज्ञानिक युगके आरम्भसे लेकर अबतक योरोपके लोगोंमें एक भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि विज्ञान और धर्म दोनों विरोधी वस्तुएँ हैं, उनका सहचार असम्भव है। हमारी समझमें इस भ्रान्तिका कारण बाइबिलकी अपनी कमज़ोरी थी। बाइबिलमें वस्तुतः बहुतसे ऐसे प्रसंग आते हैं जिनको विज्ञानकी कसौटीपर किसी भाँति कसा ही नहीं जा सकता। वह स्थल विज्ञानके विरुद्ध

हैं, बुद्धिके विरुद्ध हैं और तर्कके विरुद्ध हैं। योरोपीय जन-समुदायके सामने साधारण तौरसे धर्मका प्रतिनिधित्व एक मात्र बाइबिलपर अवलम्बित था, इसीलिए बाइबिलके उन उथले उपाख्यानोंने धर्म और विज्ञानके भीतर शाश्वतिक वैरसा उत्पन्न कर दिया है; परन्तु वस्तुतः धर्म और विज्ञान एक दूसरेके विरोधी नहीं हैं, एक दूसरेसे उदासीन नहीं हैं; बल्कि दोनों एक दूसरेके सहकारी हैं।

ज्ञानकी अपरिपक्वता ही नास्तिकता है

किसी विद्वानने कहा है कि धर्म और विज्ञान दो सगी बहन हैं, उनकी पृथकृता निस्सन्देह दोनोंको नष्ट कर देगी। परन्तु यह सब विवेचनाएँ विचारक और विद्वान् मस्तिष्कोंकी हैं। योरोपमें जनसाधारण-की धारणा तो धर्म और विज्ञानको विरोधी करार दे चुकी है, ऐसा प्रतीत होता है। इस भ्रान्त धारणाके कारण ही हम देखते हैं कि विज्ञानकी ओर विशेष रुचि रखनेवाले लोग बिना किसी संकोचके विज्ञानकी दुहाई देकर धार्मिक धारणाओंकी धज्जियाँ उड़ाने लगते हैं। इस नास्तिक मनोवृत्तिका दूसरा कारण ज्ञानकी अपरिपक्वता भी है। हममेंसे हरएकका नहीं, हाँ बहुतोंका अनुभव इस प्रकारका होगा कि उनके विगत जीवनमें एक समय आया है जब कि उनके हृदय-में नास्तिकताके भावोंका विशेष प्रभाव रहा है। उनकी मनोवृत्ति ईश्वर और परलोकादि धार्मिक विश्वासोंसे विमुख रही है और क्रिया-त्मक जीवन धार्मिक विधि-विधानोंसे सर्वथा शून्य रहा है। यह मनोवृत्ति उस समयकी है जब कि हमारा साधारण ज्ञान अत्यन्त अप-रिपक्व अवस्थामें होता है। इसके बाद ज्यों ज्यों उसका परिपाक होता जाता है, त्यों त्यों हमारी मनोवृत्ति भी परिवर्तित होती जाती है। संस्कृत

साहित्यके किसी कविने लगभग इसी भावनाको बड़े सुन्दर शब्दोंमें चित्रित किया है—

> यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
> यदा किञ्चित् किञ्चित् बुधजनसकाशादवगतं
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

जब हम अत्यन्त अज्ञ होते हैं, अर्थात् जब हमारा ज्ञान अत्यन्त अपरिपक्व होता है, उस समय मानवीय स्वभावके अधीन हो अपनेको बहुश्रुत, विशेषज्ञ और बड़ा विद्वान् समझा करते हैं। हमारा विश्वास उस समय ऐसा होता है कि हम जो कुछ समझते हैं या कहते हैं, वही ठीक है, वही उचित है और वही वास्तविक तथ्य है, बूढ़ोंकी भावनाएँ सठियाई बुद्धिका परिणाम हैं। परन्तु वस्तुतः बात इसके विपरीत होती है। जब हम वस्तुस्थितिपर विचार करते हैं और विद्वानोंके संसर्गमें रहते रहते हमारा ज्ञान परिपक्व होने लगता है, तब हमारा वह सारा अहंकार हाथीके मदके समान झड़ जाता है। उस समय हमें अपनी वास्तविक स्थितिका पता चलता है कि हम पहले कितने भ्रांत थे। उस समय हम अपनी पहली धारणाओंका थोथापन देखकर कहने लगते हैं—

> "तदा, मूर्खोस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः"

यह एक वास्तविक सचाई है, मनोवैज्ञानिक तथ्य है और ऐतिहासिक सत्य है।

A little philosophy inclineth man's mind to Atheism, but depth in philosophy bringeth man's mind about to religion, for while the mind of man

looketh upon the second causes scattered it may some times rest in them and go no further, but when if beholdeth the chain of them confederate and linked together must needs to fly to Providence and Deity.

—Sir Francis Bacon in the Essay on Atheism.

हम इस विचारकी पुष्टिके लिए प्रकृतोपयोगी दो तीन ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करनेका यत्न करेंगे। वुंट जरमनके सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक व्यक्ति समझे जाते हैं। अपने विषयके विशेषज्ञ होनेके साथ ही वे प्राणिविज्ञान, अंगविच्छेदशास्त्र और शरीर-व्यापार-विज्ञानके भी अच्छे पण्डित थे। ऐसे विद्वान् अन्यत्र कम देखनेको मिलते हैं। इन्होंने भौतिक विज्ञान एवं रासायनिक विज्ञानके अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंका प्रयोग मनोविज्ञानके प्रकृत क्षेत्रमें करके दिखाया है। सन् १८६३ में इन्होंने 'मानव और पाशव मनोविज्ञान' पर अपना व्याख्यान प्रकाशित किया और उसमें यह सिद्ध किया कि मुख्य मुख्य मनोव्यापार अचेतन आत्मामें होते हैं। वुंटने मस्तिष्कके उन अवयवोंको स्पष्ट करके दिखाया जो आत्माके अचेतन-घटपर बाह्य-विषय-सम्पर्कसे उत्पन्न उत्तेजनाके प्रभावोंको अंकित करते हैं। सबसे बड़ा कार्य जो वुंटने किया वह यह था कि वेगसम्बन्धी भौतिक विषय मनोव्यापारके क्षेत्रमें पहले पहल उन्हींने घटाये और मनस्तत्त्वके प्रतिपादनमें शरीरगत विद्युद्विज्ञानकी बहुतसी बातोंका उपयोग किया।

तीस वर्ष पीछे सन् १८९२ में वुण्टने जब अपने ग्रन्थका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया, तब उसने अपना पिछला सिद्धान्त इस

संस्करणमें विलकुल वदल दिया। प्रथम संस्करणमें जिन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंका निरूपण किया गया था, वह सब इस संस्करणमें छोड़ दिये गये या परिशोधित कर दिये गये। पिछले संस्करणमें प्रतिपादित किये गये अद्वैत सिद्धान्तके स्थानपर द्वैतवादका प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार वुंटके ग्रंथके दोनों संस्करणोंमें किया गया मनस्तत्त्व-निरूपण परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। पहले संस्करणके निरूपण तो सर्वथा भौतिक हैं और उनपर अद्वैतवादकी छाप लगी हुई है; परन्तु द्वितीय संस्करणके निरूपण आध्यात्मिक और द्वैतभावनापन्न हैं। पहलेमें तो मनोविज्ञानको एक भौतिक विज्ञान मानकर वुण्टने उसका निरूपण उन्हीं नियमोंके आधारपर किया है, जिनपर शरीर-विज्ञानके अन्य सव अंगोंका निरूपण किया जाता है; परन्तु तीस वर्ष पीछे उन्होंने मनोविज्ञानको आध्यात्मिक विषय कहा और उसके तत्त्वों एवं सिद्धान्तोंको भौतिक विज्ञानके तत्त्वों एवं सिद्धान्तोंसे सर्वथा विभिन्न कहा। इस प्रकार शरीर और आत्माकी पृथक्ता सिद्धकर वुंटने सचमुच द्वैतवादियोंके मानकी और वास्तविक तथ्यकी मान-रक्षा कर ली। इन सारे परिवर्त्तनोंपर प्रकाश डालते हुए वुंटने इस द्वितीय संस्करणकी भूमिकामें जो कुछ लिखा है, उसे हम हैकलकी 'रिडिल ऑफ् दि यूनिवर्स' पुस्तकसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

Wundt himself says in the preface to the second edition that he has emancipated himself from the fundamental errors of the first, and that he 'Learned many years ago a sin of youth, it 'Weighed on

him a kind of crime, from which he longed to free himself as soon as possible '

' पहले संस्करणमें मुझसे जो भ्रम हो गये थे उनसे अब मैं मुक्त हो गया। कुछ दिन पीछे जब मैंने विचार किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि मैंने पहले जो कुछ कहा था वह केवल युवावस्थाका अविवेक—आवेश—था। यह बात मेरे हृदयमें बराबर खटकती रही और मैं निरन्तर जहाँ तक शीघ्र हो सके उस पापसे मुक्त होनेकी राह देखता रहा। '

यह पंक्तियाँ वस्तुतः वुन्टके सत्य-प्रेमकी परिचायक हैं। इतना बड़ा मनोविज्ञानवेत्ता—जिसकी बातका लोहा सारा जर्मनी ही नहीं बल्कि सारा योरोप मानता है—इस सरलताके साथ अपनी भूलका संशोधन करनेको तैय्यार हो जाता है, यह चेतनताकी जड़वादके ऊपर विजय है। वुण्ट केवल अपने पिछले विचारोंका परिशोधन ही नहीं करता है बल्कि उसे खुले शब्दोंमें बिना किसी संकोचके ' पाप ' स्वीकार करता है और सहर्ष उसका प्रायश्चित्त करता है। वुण्ट स्वयं स्वीकार करता है कि पहले उसने जो कुछ लिखा वह केवल युवावस्थाका अविवेक था—अपरिपक्व ज्ञानका परिणाम था। परन्तु तीस वर्षके अनुभवमें ज्यों ज्यों ज्ञानका परिपाक हुआ वुण्टकी आरम्भिक धारणा भी परिवर्तित होती गई और अब उसे उन भ्रान्तियोंसे मुक्त होनेकी आवश्यकता अनुभव होने लगी। हमारे विचारके समर्थनके लिए इससे बढ़कर दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं, मगर ऐतिहासिक जगत्में इस प्रकारके न जाने कितने उदाहरण भरे हुए हैं। प्रकृत विषयके सम्बन्धमें इसी प्रकारके विचार-परिवर्तन और भी वैज्ञानिकोंको करने पड़े हैं

जिनमेंसे कांट, विरशो, रेमांड और बेयर आदिके नाम अत्यन्त उल्लेख-योग्य हैं।

R. Virchos, E. duBois Reymond विरशो और रेमाण्ड भी जर्मनीके प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंमेंसे हैं। पहले वहुत दिनोंतक ज्ञानकी अपरिपक्वावस्थामें इन दोनोंने भी अन्य वैज्ञानिकोंकी भाँति एक अमर आत्माकी सत्ता स्वीकार करनेका घोर विरोध किया था। उस समय उनके विचारमें देह और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ नहीं थीं बल्कि आत्मा भी भौतिक देहविन्यासका प्राकृतिक परिणाम थी। पीछे जब उनके ज्ञानकी परिपक्वता, और अनुभवकी वृद्धि हुई, तो उन्होंने भी चेतनको भूतातिरिक्त ठहराया और मुक्तकंठसे अमर आत्माकी सत्ता स्वीकार की। इसी प्रकार जर्मनीके सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट Immanual Kant ने अपनी युवावस्थाके आवेशमें यह प्रतिपादन किया कि ईश्वर, आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्माका अमरत्व शुद्धबुद्धिके द्वारा निरूपित नहीं किये जा सकते। परन्तु ज्ञान और अनुभवकी वृद्धिके वाद उसी काण्टने अपनी वृद्धावस्थामें लिखा कि यह तीनों विषय व्यवसायात्मिका बुद्धिके स्वयंसिद्ध निरूपण हैं और अनिवार्य हैं। Carl Ernst Baer बेयरको भी इसी प्रकार अपनी युवावस्थाके अपरिपक्व विचारोंको ज्ञान और अनुभवकी वृद्धिके वाद अपनी वृद्धावस्थामें परिवर्तित करना पड़ा। अन्तमें बेयरको भी अमर आत्माकी स्वतंत्र सत्ता युक्तिसंगत और वैज्ञानिक तथ्य प्रतीत होने लगी थी। फलतः केवल योरोपके वैज्ञानिक जगत्से ही आधे दर्जनसे अधिक प्रथम श्रेणीके वैज्ञानिक इस प्रकारके उपलब्ध होते हैं कि जिनके युवावस्थाके और वृद्धावस्थाके आत्मसम्बन्धी विचारोंमें अन्तर है। स्वयं हैकलके सामने भी यह और इसी प्रकारके

अन्य अनेक उदाहरण उपस्थित हुए हैं; परन्तु उसने उन उदाहरणों-की जो संगति लगानेका प्रयास किया है वह एकदम असार और हास्यास्पदसा प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंके प्रस्तुत किये जानेपर हैकलने जो उत्तर दिया है, वह द्रष्टव्य है। उसकी दलीलोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई दुराग्रही बालक बोल रहा हो। हैकलके उस उत्तरमें कोई गम्भीरता नहीं, उसकी तह इतनी अधिक उथली है कि उसके भीतरसे हैकलके हृदयकी सारी मलिनता स्पष्ट दिखाई दे जाती है। हैकलने लिखा है कि—

"यह क्यों न कहा जाय कि युवावस्थामें अन्वेषण-श्रमकी शक्ति अधिक रहती है, बुद्धि अधिक निर्मल और विचार अधिक स्वच्छ होता है। पीछे वृद्धावस्था आनेपर जैसे शरीरकी और सब शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं, वैसे ही बुद्धि भी सठिया जाती है—जीर्ण हो जाती है।"

कितने थोथे शब्द हैं! कैसे छिछले भाव हैं!! इन्हें दर्शनशास्त्रीकी तर्कना कहा जाय या किसी दुराग्रही दिमागका दीवानापन!

हैकलको अपनी ६६ वर्षकी अवस्थामें जब कि उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडिल आफ् दी यूनीवर्स'की रचना की थी, अपनी बुद्धि और विवेचनाशक्तिके ऊपर पूरा विश्वास था। वह समझता था कि जड़वादके ऊपर मैं आरम्भसे आजतक जैसे डटा रहा हूँ, उसी प्रकार अन्ततक स्थिर रहूँगा। उपर्युक्त मतपरिवर्तन करनेवाले वैज्ञानिकोंकी विवेचना करनेके बाद हैकलने लिखा है—

"........परन्तु मैं लगातार ४० वर्षके अध्ययनके उपरान्त अब भी (वुण्टके शब्दोंमें) उसी अविवेकमें पड़ा हूँ। लाख चेष्टा करने-

पर भी उससे मुक्त नहीं हो सकता हूँ। अतएव मैं बलपूर्वक कह सकता हूँ कि वुण्टने जिसे अपनी युवावस्थाका अविवेक या अविचार कहा है, वही सच्चा विवेक है—वही सच्चा विचार है। उस सच्चे विचारका समर्थन बूढ़े दार्शनिक वुण्टके विचारके विरुद्ध मैं सदा ही करता रहूँगा।"

इन शब्दोंके भीतर हैकलके ४० वर्षोंका अनुभव छिपा हुआ है। उनके भीतर एक प्रकारकी दृढ़ता है जो अक्षय प्रतीत होती है, एक प्रकारका विश्वास है जो अटल प्रतीत होता है। उस अनुभव, उस दृढ़ता और उस विश्वासके बलपर ही तो हैकल बूढ़े वुण्टके विरुद्ध कमर कसकर तय्यार खड़ा था। परन्तु उसे क्या मालूम था, कि वह वुण्टका नहीं, बल्कि वृद्धावस्थाकी—परिपक्व ज्ञानकी उस प्रबल शक्तिसे मोर्चा लेने जा रहा था जो बड़े बड़े बलाभिमानियोंके मस्तक नवा देती है। जिसके आगे वुण्टने सर झुकाया, जिसके सामने काण्टने मस्तक नवाया और जिससे विरशो, ब्रेयर तथा रेमाण्डने पराजय स्वीकार की, उसी प्रबल शक्तिसे टक्कर लेने जा रहा था—डंकेकी चोट जा रहा था—६६ वर्षका जड़वादी हैकल। सचमुच जड़वादने चेतन हैकलकी बुद्धिको भी जड़ कर दिया था, ऐसा प्रतीत होता है। दीपक जब बुझने लगता है, तो उसकी ज्योति और भी तीव्र हो उठती है। हैकलके जड़वादी विचारोंका अन्त समीप आ रहा था, इस लिए उनके भीतर एक बार और अन्तिम बार फिर जड़वादकी ज्योति चमक उठी है। इस अन्तिम चमचमाहटके साथ ही हैकलके जड़वादी विचारोंका निर्वाण हो गया। अपनी बुद्धि और विवेचनाशक्तिपर अभिमान और

विश्वास रखनेवाले हैकलको भी परिपक्व ज्ञानकी उस प्रबल शक्तिके सामने दबना पड़ा। अपने अन्तिम समयमें हैकलका विश्वास भी जड़ाद्वैतका अनन्य उपासक नहीं रहा है। इसके जीवनका सारा प्रयास विश्वकी संगत व्याख्या करनेका एक प्रयत्न मात्र है, वह अन्तिम निर्णय नहीं है। वह पहेलियाँ जो दर्शनशास्त्रकी आधार हैं अबतक भी ज्योंकी त्यों बनी हुई हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि यह वाद बड़ा विस्तृत है और उसके कभी समाप्त हो सकनेकी सम्भावना नहीं। हैकलने एक मासिक पत्रके सम्पादक अपने एक सहयोगी बन्धुके सामने इस प्रकारके विचार प्रकट किये थे—

It is a vast and never ending programme of Philosophy. Perhaps it will always remain unanswered. I have striven for a reasonable interpretation of life nature and the world, but the riddles remain.

They are as you observe a trinity:—

Whence do we come ?
What are we ?
Whither do we go ?

इन पंक्तियोंका आशय लगभग वही है जिसे हम इन पंक्तियोंके उद्धृत करनेसे पहले लिख चुके हैं। हैकलने विश्व-पहेलीको सुलझानेका केवल एक प्रयत्न मात्र किया है। उसमें वह सफल हो सका है, ऐसा नही कहा जा सकता। क्यों कि हैकलके उस प्रयासके बाद भी वह पहेलियाँ ज्योंकी त्यों बनी हुई हैं, उसके अपने जड़ाद्वैतवादके अनुसार उनका हल नहीं हो सका है। हैकलकी पुस्तक 'रिडिल आफ् दि यूनीवर्स'के भीतर एक प्रकारकी दृढ़ता थी, एक प्रकारका अभिमान था; जो जड़ाद्वैतके समर्थनके लिए फूटा सा पड़ता था। पुस्त-

कमें अनेक स्थलोंमें उसकी झलक दिखाई देती है। अपनी उसी कट्टरताके भरोसे हैकलने जगह जगह लिखा है कि विश्वसम्बन्धी उन सारी दुर्ज्ञेय पहेलियोंका हल मेरे इस जड़ाद्वैतके द्वारा हो जाता है— वड़ी सुन्दरताके साथ हो जाता है। परन्तु अन्तिम समयमें आकर हैकलकी उस कट्टरताने भी उसे धोखा दिया है—

'प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः'

जड़ाद्वैतवादका वह सौन्दर्य भी हैकलकी अवस्थाके साथ ही ढल गया। इस लिए उसके अन्तिम शब्दोंमें न उतना ज़ोर है, न उतना सौन्दर्य है और न उतनी कट्टरता।

यही नहीं, अभी सम्भवतः कुछ और कमी थी। इलहामके सम्बन्धमें उसके अन्तिम विचार इसके साथ ही प्रकट हुए हैं, उनके भीतर वही जड़ाद्वैतवादकी शिथिलता या पराजय पद-पदपर दिखाई देती है। हैकलने लिखा है—

They may or may not receive such informations but there is no scientific ground for dogmatism on the subject nor any reason for asserting the inconceivablity of such a thing.

The article in the T. P's Magazine, quoted in the Materialism by Danial Dinathan Kango. Pp. 158.

उन्हें इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त हो या न हो, परन्तु इस सम्बन्धमें किसी सिद्धान्तके स्थिर करनेके लिए कोई वैज्ञानिक हेतु नहीं दिया जा सकता और न इस प्रकारका कोई प्रबल कारण मिल सकता है कि जिससे इस विषयको अविचार्य ठहराया जा सके।

फलतः योरोपके बड़ेसे बड़े वैज्ञानिकोंने—जिन्होंने अपनी युववस्थामें स्वतन्त्र आत्माकी सत्ताकी कड़ी आलोचना की और दृढ़ताके साथ उसे अमान्य ठहराया—अपने अन्तिम समयमें उस अमर आत्माकी स्वतंत्र सत्ताको स्वीकार किया और उसके सामने सिर झुकाया। यही चैतन्य-वादकी जड़वादके ऊपर बड़ी भारी विजय थी। इतनी प्रबल शक्तिको पराजित करनेका सामर्थ्य किसमें है? इस लिए आत्माकी सत्ता-साधनके लिए हमें और किसी युक्तिका आश्रय लेनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वैज्ञानिक जगत्में वह युक्तियाँ जो इसके विरोधमें प्रस्तुत की जाती हैं, केवल युवावस्थाका अविवेक है, उनके भीतर कोई तत्त्व नहीं है, इसकी साक्षी इतिहासके पृष्ठोंपर महान् वैज्ञानिकोंके चरित्रोंमें स्पष्टतः चित्रित है। वैज्ञानिक युगकी सारी आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओंके बाद भी अमर आत्माकी सत्ता ज्योंकी त्यों अक्षुण्ण बनी हुई है—

सदियों फ़िलासफ़ीकी चुनाचुनी रही।
मगर खुदाकी बात जहाँ थी वहीं रही॥

दशम परिच्छेद

पौरस्त्य आत्मवाद

आस्तिक नास्तिक

भारतीय दार्शनिक क्षेत्रमें भी प्राचीन समयसे दो भिन्न प्रकारकी मनोवृत्तियाँ कार्य करती रही हैं। इन दोनोंमें मतभेद है, वैपरीत्य है और वह मतभेद वैमनस्यकी सीमा तक पहुँच गया है। इनमें एक मनोवृत्तिको आस्तिक और दूसरीको नास्तिक शब्दसे निर्दिष्ट किया जा सकता है। आस्तिक और नास्तिक शब्दोंका प्रयोग वस्तुतः किस अभिप्रायको लेकर प्रारम्भ हुआ, यह कह सकना कठिन है; फिर भी उस मतभेदका ध्यान रखते हुए जो इन शब्दोंकी व्याख्या करते समय उपस्थित हो सकता है और इन शब्दोंके प्रयोगके विषयको देखकर हम सारे झँझटसे बचनेके लिए आस्तिक नास्तिक शब्दोंकी व्याख्यामें इतना निर्भय होकर कह सकते हैं कि भारतीय साहित्यमें आस्तिकका सम्बन्ध किसी वस्तुके अस्तित्वसे है और नास्तिकका सम्बन्ध उसी वस्तुके अभावसे हैं। परन्तु वह वस्तु क्या है जिसके अस्तित्व और नास्तित्वपर आस्तिक और नास्तिक शब्दका प्रयोग निर्भर है, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। किसीने परलोक, किसीने अदृष्ट और किसीने ईश्वर शब्दसे उस वस्तुको निर्दिष्ट किया है, जिसको स्वीकार करने-वाली मनोवृत्तिको आस्तिक और जिसको न माननेवाली मनोवृत्तिको नास्तिक शब्दसे कहा जाता है। इन्हीं शब्दोंकी एक और व्याख्या है

जिसका सम्बन्ध श्रुति या वेदसे है । इस व्याख्याके अनुसार दार्शनिक साहित्य श्रौत और तार्किक दो भागोंमें विभक्त है । इनमेंसे श्रौत दार्शनिक वह हैं जिनके यहाँ श्रुति या वेद परम प्रमाण है । यह प्रत्येक विवादग्रस्त विषयका निर्णय वेदके सहारे ही करते हैं । उनके विचारके अनुसार वेद प्रमाण—केवल प्रमाण—है, उसमें अप्रामाण्यकी आशंका की ही नहीं जा सकती । यदि कभी वेदका कोई अंश अप्रमाण असंगत और प्रकृतिविरुद्ध दिखाई देता है, तो भी वह उसे प्रमाणान्तरके सामने दुर्बल स्वीकार करनेको तैय्यार नहीं । सायणने वैदिक या श्रौत दार्शनिकोंकी इसी नीतिका स्पष्टीकरण करते हुए अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ सर्व-दर्शन-संग्रहमें लिखा है—

न हि वेद प्रतिपादितेऽर्थेऽनुपपन्ने वैदिकानां बुद्धिः खिद्यते । अपि तु तदुपपादनमार्गमेव विचारयति ।

अर्थात् वेदप्रतिपादित किसी बातके युक्तिविरुद्ध और असंगत होनेपर भी वैदिक बुद्धि खिन्न नहीं होती, बल्कि उसके उपपादनके लिए उपाय ही सोचती है ।

दार्शनिकोंके इस श्रौत विभागमें मुख्यतः वेदान्त और मीमांसा समझे जाते हैं । जैमिनी और बादरायणने क्रमशः—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् ।

—जै० सू० १।३।३

शास्त्रयोनित्वात् ।

ब्र० सू० १।१।३

सूत्रोंद्वारा इस भावको व्यक्त किया है कि वह किसी प्रमाणके सामने किसी भी अवस्थामें श्रुतिको दुर्बल माननेको तय्यार नहीं । यह लोग इसीलिए श्रौत दार्शनिक कहे जाते हैं ।

दूसरे दर्शनकार तार्किक दर्शनकार कहे जाते हैं। इनके साथ तार्किक शब्दका प्रयोग उनकी तार्किक मनोवृत्तिके कारण हुआ है।

तर्क एवामूलं तत्त्वान्वेषणे मुख्यं साधनं येषां ते तार्किकाः।

जो किसी वस्तुके निर्णयके लिए प्रधान रूपसे तर्कका आश्रय लेते हैं वह तार्किक कहलाते हैं। यह तार्किक भी अपने मनोवृत्तिके काठिन्य और मृदुताके कारण दो विभागोंमें विभक्त हो सकते हैं। वह तार्किक जो एकदम कठोर प्रकृतिके हैं, अपने तर्कके विरोधी किसी प्रमाणके प्रति सौजन्य और मार्दवसे कार्य ले ही नहीं सकते, वह उसे एकदम अप्रमाण, असत्य और अविश्वसनीयका सर्टिफिकेट दे डालते हैं। दूसरे वह लोग हैं, जो तत्त्वनिर्णयके लिए तर्कको प्रधान साधन समझते हैं, फिर भी अपने विरोधी प्रमाणोंके प्रति कुछ सहानुभूति, सौजन्य और उदारतासे कार्य लेते हैं। दूसरे प्रकारके तार्किक यदि किसी श्रुतिको अनुपपन्न और असंगत होते देखते हैं, तो भी एकदम मिथ्या और अविश्वसनीय कहकर उसका उपहास नहीं करते, बल्कि सहानुभूति और उदारताके साथ श्रुतिकी न्यायसंगत दूसरी ऐसी व्याख्या करनेका यत्न करते हैं, जो प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणोंके साथ फब जाय—कमसे कम उनके विरुद्ध न रहे। यह श्रुतिको अप्रमाण कहना नहीं चाहते; परन्तु साथ ही श्रौत दार्शनिकोंकी भाँति श्रुतिके एकदम अन्ध पक्षपाती भी नहीं हैं। इनकी नीतिके अनुसार श्रुति यदि तर्कके साथ चल रही है, तब तो ठीक है, उसमें कुछ आपत्ति नहीं, परन्तु हाँ, यदि किसी अवस्थामें तर्कके साथ—अनुमानके साथ—टक्कर नहीं खाती, उसके विरोधमें पड़ती है, तो हमें यत्न करके श्रुतिको तर्कके मार्गपर लाना चाहिए ताकि

फिर श्रुतिमें और अनुमानमें कोई विरोध न रह सके। इसी लिए विशेष विशेष अवसरोंपर उदार तार्किक श्रुतिको गौण मानकर उसकी व्याख्यान्तरकी कल्पना करते हैं।

इस विषयके स्पष्टीकरणके लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। नैयायिकोंके विचारसे आकाश निरवयव अतएव नित्य द्रव्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती। उनका अनुमान कहता है—'यन्निरवयवं तन्नित्यं, यथा परमाणवः' फलतः विवश होकर निरवयव आकाशको नित्य मानना पड़ता है। जब दूसरी ओर हम श्रुतिको उठाकर देखते हैं, तो वह कहती है—

'तस्माद्वैतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'

तै० २।१।१

आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुइ। तार्किकका अनुमान आकाशको नित्य—अनुत्पन्न—द्रव्य निश्चय करता है; परन्तु श्रुति उसके विरुद्ध आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति वतलाती है। ऐसी अवस्थामें अनुमानविरोधी आगमकी संगति लगानेके लिए उदार तार्किक 'सम्भूतः'का अर्थ गौण-वृत्तिसे 'अभिव्यक्तः' मानकर दोनोंको ठीक ठीक बैठाल देता है। इसी प्रकार वर्तमान चेतन और जड़का भेद और चेतन नानात्वको देखकर तार्किकका अनुमान सृष्टिके पहले भी जड़ प्रकृति और चेतन ईश्वर जीव अथवा पुरुषकी सत्ता स्वीकार करता है। परन्तु उसके विरोधमें—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म—

सर्वं यदयमात्मा

—बृहदारण्यक २।४।६

आदि श्रुति केवल एक अद्वितीय ब्रह्मको प्रतिपादन करती हैं। इस पारस्परिक मतभेदके परिहारके लिए उदार तार्किक श्रुतिको गौण मानकर उनकी व्याख्या प्रकारान्तरसे करता है और उसका आशय यह है कि यह सब ब्रह्म—ईश्वर—के अधीन था।

ऊपरके उदाहरणोंमें हमने देखा कि यद्यपि श्रुति तार्किकके अनुमानके सर्वथा विरोधमें जा रही थी, फिर भी वह उन्हें देखकर एकदम क्षुब्ध नहीं हो उठा है, अधीर नहीं हो गया है कि श्रुतिको बिलकुल मिथ्या अप्रमाण और अविश्वसनीय करार दे। उसके बजाय वह उदारता और सहनशीलतासे कार्य लेता है और अन्तमें दोनोंको सुसंगत और समानार्थ करके सहयोगियोंके रूपमें देखकर प्रसन्न होता है। श्रौत दार्शनिक और उदार तार्किक दोनों ही श्रुतिको मानते हैं; परन्तु भेद केवल इतना है कि श्रौत दार्शनिक श्रुतिके घोर या कट्टर अनुयायी हैं; परन्तु उदार तार्किक श्रुतिके अनुयायी होनेपर भी उनकी अपेक्षा कुछ अधिक उदार हैं। ये दोनों ही आस्तिक श्रेणीमें गिने गये हैं। इनके अतिरिक्त तीसरा विभाग अनुदार तार्किकोंका रह जाता है। अनुदार तार्किकोंके लिए ही प्रायः नास्तिक शब्दका प्रयोग हुआ है। इन्होंने वैदिक मंत्रोंकी व्याख्या-विधिका मनन किये बिना वेद-मंत्रोंका अर्थ किया और अपने उस अर्थके अनुसार वेदोंको असंगत कहकर उनको मानने और उनपर विश्वास करनेसे सर्वथा इन्कार कर दिया। वेदोंके प्रति इस अविश्वास और उपेक्षाके कारण ही अनुदार तार्किक नास्तिक श्रेणीमें गिने गये हैं।

भगवान् मनुने लिखा है—

'नास्तिको वेदनिन्दकः'

जिस वस्तुके स्वीकार और इन्कारपर आस्तिक और नास्तिक शब्दोंका व्यवहार निर्भर है, वह मुख्यतः ईश्वर, अदृष्ट, परलोक और वेद रहे हैं। इनमेंसे अन्तिम (वेद) को आस्तिकताका हेतु माननेसे आस्तिकताका क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। व्यावहारिक बुद्धि इस बातको अस्वीकार नहीं कर सकती कि संसारमें एक दो नहीं हजारों लाखों व्यक्ति ऐसे हैं, जो वेदपर विश्वास करना तो दूर रहा उसका नाम भी नहीं जानते; परन्तु उनका वैयक्तिक चरित्र और ईश्वर-विश्वास ऊँचा—इतना ऊँचा—है कि उनको नास्तिक शब्दसे सम्बोधित करना वस्तुतः साहस है। सम्भवतः मनु आदि विद्वान् भी आस्तिकताके क्षेत्रको इतना संकीर्ण बना देना पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए उन्होंने 'वेदनिन्दक'को नास्तिक कहा है, वेदोंसे नितान्त अपरिचित लोगोंको नहीं।

आस्तिकताकी दूसरी कसौटी ईश्वर-विश्वास है। अर्थात् जो जो ईश्वरकी सत्ता और उसकी शक्तिको जानते और मानते हैं, उनकी गणना आस्तिक समाजमें की जाती है। इसके विरुद्ध उस सत्ता और उस शक्तिको अस्वीकार करनेवाले लोग नास्तिक श्रेणीमें समझे जाते हैं। परन्तु प्राचीन संस्कृत-साहित्यकी थोड़ी छान-बीनसे ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर-विश्वास आस्तिकताकी सच्ची कसौटी नहीं है। भारतीय दार्शनिकोंमें सांख्याचार्य कपिलको प्रायः निरीश्वर-वादी कहा गया है और उनका दर्शन निरीश्वर सांख्य नामसे भी प्रसिद्ध है। परन्तु फिर भी कपिलकी गणना नास्तिकोंमें नहीं हुई है। कपिल वस्तुत निरीश्वरवादी थे या नहीं, यह विषय विवादग्रस्त है। हम स्वयं उससे सहमत नहीं; परन्तु हाँ,

साधारण दृष्टिसे उनको निरीश्वरवादियोंमें गिना गया है और निरी-श्वरवादी होकर भी कपिल नास्तिक श्रेणीमें नहीं हैं, इससे यह स्पष्ट है कि ईश्वर-विश्वास आस्तिकताकी असली कसौटी नहीं है।

हमारे विचारमें आस्तिकताकी असली परिभाषा इस भौतिक जग-त्से परे किसी चेतन-सत्ताकी स्वीकृति ही कही जा सकती है, अर्थात् जो लोग भौतिक जगतसे परे किसी चेतन सत्ताको स्वीकार करते हैं वह आस्तिक हैं और इसके विपरीत नास्तिक। इस परिभाषाको माननेसे संभवतः किसी प्रकारकी आपत्ति आनेकी आशंका नहीं रहती। आस्तिकताकी अन्यान्य परिभाषाओंके अनुसार जिन लोगोंको आस्तिक कहा जाता है, उनमें कोई भी ऐसा नहीं जो हमारी इस परिभाषासे बाहर रह सके। ईश्वर, वेद, अदृष्ट या परलोक आदि किसीपर भी विश्वास करनेवालेके लिए यह अनिवार्य और आवश्यक है कि वह इस भौतिक जगत्से परे किसी चेतन-सत्ताको स्वीकार करे। इसके माने बिना ईश्वर, वेद, अदृष्ट या परलोक किसीपर विश्वास कर सकना सम्भव ही नहीं। फलतः उपर्युक्त अन्य परिभाषाओंको ध्यानमें रखते हुए शायद हमारी परिभाषामें किसी प्रकारकी अव्याप्तिकी सम्भावना नहीं है। इसके अतिरिक्त जो कमी ऊपरकी परिभाषाओंमें रह जाती थी, उसकी पूर्ति भी यहाँ आकर हो जाती है। सांख्याचार्य किसीके विचारमें निरीश्वरवादी भले ही हों; फिर भी भौतिक जगत्से पेर चेतन-सत्ता पुरुषको वह स्वीकार करते हैं, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। अर्थात् हमारी इस परिभाषाके अनुसार उनका संग्रह भी आस्तिक श्रेणीमें सरलतासे किया जा सकता है। फलतः यह परिभाषा कहीं

अव्याप्त नहीं है और न कहीं अतिव्याप्त है। इसी लिए हमारे विचारमें आस्तिकता और नास्तिकताकी सबसे अधिक पूर्ण कसौटी यही चेतन-सत्ताकी स्वीकृति है। न केवल भारतीय दार्शनिक क्षेत्रमें बल्कि उसके बाहर भी आस्तिकता और नास्तिकताकी यही परिभाषा काम दे सकती है।

आस्तिक पक्ष

भौतिक जगत्से परे इस नित्य चेतन-सत्ताका नाम भारतीय दार्शनिकोंने आत्मा रक्खा है। यह चेतन-सत्ता या आत्मा साधारणतः दो प्रकारकी कही जाती है—एकको परमात्मा ईश्वर, ब्रह्म, आदि शब्दोंसे निर्दिष्ट करते हैं और दूसरेके लिए जीवात्मा शब्दका प्रयोग होता है। ब्रह्म, ईश्वर या परमात्मा किसे कहते हैं, उसका स्वरूप और उसकी आवश्यकता क्या है, इसे हम अगले खंडमें लिखेंगे। इस परिच्छेदमें प्रयुक्त आत्मवाद शब्दका आशय जीवात्मवादसे है और यहाँपर हम उसीकी आलोचनामें कुछ पंक्तियाँ लिखनेका प्रयास कर रहे हैं।

प्राणि-जगत्के भीतर पाई जानेवाली चेतनाके समझनेके लिए कुछ विशेष प्रकारकी चेष्टाएँ उपयोगमें लाई जाती हैं। उदाहरणके लिए बाह्य उत्तेजनाओंके द्वारा हुई सुख-दुःखकी अनुभूति, उसके कारण उस वस्तुसे राग इच्छा या द्वेष और उससे प्रेरित होकर उसकी प्राप्ति या परित्यागके लिए प्रयत्न, यह सब जहा पाये जाँय उस जगह हम यह अनुमान करते हैं कि इसमें चेतनता है। अर्थात् सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान आदि गुण चेतनताके परिचायक हैं। इन्हींके द्वारा हम चेतन-सत्ता आत्माको समझ सकते हैं और समझते हैं। पत्थरकी बनी गाय या मनुष्यकी मूर्तिमें किसी प्रकार भी

संचार नहीं है, किसी प्रकारका द्वेष और प्रयत्न नहीं है, किसी प्रकारकी सुख-दुःखकी अनुभूति या ज्ञान नहीं है, इसलिए वहाँ चेतनाकी प्रतीति भी नहीं होती, उसे हम अचेतन समझते हैं और कहते हैं। यही इच्छा द्वेष आदि हमारे भौतिक देहके भीतर अन्त-र्निहित—लीन—चेतनसत्ता—आत्मा—का अधिगम या ज्ञान कराते हैं। इसीलिए दार्शनिक परिभाषामें 'लीनं' (अन्तर्निहित—अव्यक्त अर्थको) 'गमयति' (बोधयति बतलाता है) 'इति लिंगं' कहा है। इन्हीं लिंगोंके द्वारा लिंगी आत्माका अनुमान होता है। यही भाव न्याय-सूत्रोंके रचयिता महर्षि गौतमने अपने—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गानि।

—न्याय १।१

सूत्रसे व्यक्त किया है। वैशेषिक दर्शनने भी लगभग इसी प्रकारका सूत्र आत्मलिंग-निरूपण प्रकरणमें दिया है। अन्यान्य दर्शनोंमें भी आत्मसिद्धिके लिए प्रायः इन्हींका आश्रय लेकर अनुमान दिये गये हैं।

आत्माकी सिद्धि आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंके भीतर वाद-विवादका अच्छा विषय हुआ है और विशेषतः बौद्ध दर्शनोंने इस विषयमें अधिक भाग लिया है। बौद्ध दर्शनोंकी युक्ति-प्रयुक्तियोंने वस्तुतः सारे आस्तिक दर्शनोंको परेशान कर रक्खा है। यह तो हम देखते हैं कि प्रायः सभी भाष्यकारोंकी शक्तिका पर्याप्त अंश बौद्धोंके निरात्मवादके निराकरणमें व्यय हुआ है। इस निरात्मवादका निरा-करण सांख्य और योगने भी किया है, वेदान्त और मीमांसाने भी किया है और न्याय एवं वैशेषिकने भी किया है; परन्तु उसके परि-

णाममें विशुद्ध जीवात्माकी उपलब्धि सुन्दर और स्फुटतम रूपमें हमें न्याय और वैशेषिकमें ही होती है। वेदान्तका ब्रह्म विशुद्ध जीवात्मा नहीं है। सांख्यका पुरुष भी जीवात्माके गुणोंसे शून्य है। योग और मीमांसामें भी इतने स्पष्ट रूपमें उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है। हाँ, न्याय और वैशेषिकमें उसका विकास परिमार्जित रूपमें हुआ है।

जीवात्माका मुख्यतम धर्म उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व है। वह स्वयं कर्म करता है और अपने कियेका फल भोगता है। न्यायके 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगानि' में जीवात्माके ६ गुणोंका उल्लेख किया गया है। परन्तु उनका वर्गीकरण यदि किया जाय, तो कर्तृत्व और भोक्तृत्व इनके भीतर ही सबका अन्तर्भाव हो जायगा। पहले तीन (इच्छा, द्वेष और प्रयत्न) कर्म कहे जा सकते हैं, जिनका कर्ता जीवात्मा है, पिछले तीन (सुख, दुःख और ज्ञान) अनुभूति या भोगके विषय हैं जिनका भोग या अनुभव वही जीवात्मा करता है। फलतः आत्मलिंगोंके रूपमें न्याय या वैशेषिकमें जिन गुणोंका उल्लेख किया गया है, उन्हें संक्षेपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वके रूपमें निर्दिष्ट कर सकते हैं। यही कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीवात्माके लिंग गुण या विशेषता हैं, इन्हींके ऊपर उसका अपना स्वरूप अवलम्बित है।

नास्तिक श्रेणीके लोग जीवात्माके अतिरिक्त चेतन-सत्ताको स्वीकार न कर इस भौतिक देह और इन्द्रियोंको ही कर्त्ता और भोक्ता जानते और मानते हैं। परन्तु वस्तुतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व उनके इन देह और इन्द्रियोंमें कैसे बन सकेगा, यह समझमें नहीं आता। इस सम्बन्धमें आस्तिक विचारोंकी युक्तियाँ अधिक वज़नदार मालूम

होती हैं। प्रमाणोंके रूपमें उद्धृत किये गये वेद या उपनिषदादिके वाक्योंको छोड़कर विशुद्ध युक्तिवादकी दृष्टिसे जीवात्माकी अतिरिक्त सत्ता स्वीकार करनेके लिए साधारणतः निम्न युक्तियाँ दी गई हैं—

नास्तिक पक्षकी आलोचना

यद्यपि यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि आत्मा सूक्ष्म और अतिन्द्रिय चेतन है, हम अपनी बाह्य इन्द्रियों द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। फिर भी कई विशेष कारण हैं जिनके द्वारा उसकी कल्पना अनिवार्य हो जाती है। इनमेंसे मुख्य मुख्यका संग्रह उपर्युक्त 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगानि' सूत्रके भीतर हो गया है। इन सबका कर्त्ता और भोक्ता तो कोई न कोई अवश्य मानना ही होगा, इससे नास्तिक भी इन्कार नहीं कर सकता। तब प्रश्न यह रह जाता है कि यदि एक अदृष्ट आत्माकी कल्पना किये बिना किसी अन्यमें इस कर्तृत्व भोक्तृत्वकी उपपत्ति हो सकती है या नहीं। इस सम्बन्धमें नास्तिक पक्षकी ओरसे इस कर्तृत्व और भोक्तृत्वके अधिकारीके रूपमें शरीर, इन्द्रिय या मनको उपस्थित किया जा सकता है; परन्तु तनिकसे विचारके बाद ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व न शरीरका ही धर्म हो सकता है और न इन्द्रियों या मनका ही। शरीर तो घट-पट आदिकी भाँति ही एकमात्र भौतिक पदार्थ है। जिस प्रकार घट-पट आदि सर्वथा संज्ञाशून्य पदार्थ हैं, उसी प्रकार यह पाँच भौतिक शरीर भी अचेतन संज्ञाशून्य समझना चाहिए। दूसरी बात यह है कि यदि चैतन्य वस्तुतः देहका धर्म है, तो उसे शरीरके रूपादि अन्य गुणोंकी भाँति ही यावद्द्रव्यभावी होन

चाहिए था। अर्थात् जिस प्रकार शरीरका रूप शरीरकी सत्तापर्यंत निरन्तर बना रहता है, उसी प्रकार यह चैतन्य भी जब तक शरीरकी सत्ता रहे तब तक रहना चाहिए। परन्तु बात वस्तुतः इससे भिन्न है। मनुष्यकी जीवन-लीला समाप्त होनेके बाद भी देह तो अक्षुण्ण बनी रहती है; परन्तु उसके बाद फिर चेतनताका आभास या संज्ञाका आलोक उस मृतक देहमें किसने देखा है? अतएव इस कर्तृत्व और भोक्तृत्वको इस भौतिक देहका धर्म समझना भूल है। रहा मन और इन्द्रियोंका प्रश्न। इनके सम्बन्धमें विचार करते समय हमें स्वयं इन दोनोंकी स्थितिका विचार कर लेना चाहिए। यदि हम इनकी स्थिति पर एक सरसरी नज़र भी डाल लें, तो हमारा विश्वास है कि कोई विचारशील व्यक्ति कर्तृत्व या भोक्तृत्व और चेतनत्वको इनका धर्म बतलानेके लिए उतावला न होगा। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि दार्शनिक विचारके अनुसार जीवात्माकी भाँति ही मन और इन्द्रियाँ भी केवल अनुमानगम्य हैं। उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। इन्द्रिय शब्दसे बाहर दिखाई देनेवाले गोलकोंसे अतिरिक्त इन्द्रिय-शक्तिका ग्रहण होता है। न वह शक्ति ही साधारण; प्रत्यक्षका विषय है और न मन। फिर भी उनकी आवश्यकता है, उनके बिना लोकव्यवहारका संचालन कोई नहीं कर सकता। इसलिए विवश हो इन इन्द्रियोंकी कल्पना करनी पड़ती है या इसकी सत्ता स्वीकार करनी होती है। अनुभूति एक क्रिया है, अतएव लोककी काटना, सीना, पिरोना आदि अन्य क्रियाओंके भाँति ही उसका भी कोई कारण होना आवश्यक है। जिस प्रकार बिना उपकरणोंके काटना, सीना, या पिरोना नहीं हो सकता,

उसी प्रकार उपर्युक्त करण-सत्ताके बिना अनुभवरूप क्रिया सम्भव नहीं है। इस प्रकार विवश होकर चाक्षुष, त्वाच, श्रावण, घ्राणन और रासन अनुभूतियोंके करणके रूपमें क्रमशः पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी सत्ता स्वीकार करनी होती है। यदि क्रियाको करणोंकी अपेक्षा न होती, तो हमें इन्द्रियोंकी सत्ता माननेकी आवश्यकता न होती। अर्थात् हमारी अनुभूति-प्रक्रियामें इन्द्रियोंकी स्थिति करणके रूपमें है। अब इन्द्रियोंकी इस स्थितिको ध्यानमें रखते हुए कौन ऐसा विचारशील व्यक्ति होगा, जो अनुभूतिको इन्द्रियोंका धर्म कह सकनेका साहस करे? इन्द्रियाँ तो उस अनुभूतिकी करण हैं और हमें अनुभूतिके कर्त्ताकी खोज है। कहो फिर कर्तृत्व और भोक्तृत्वको इन्द्रिय-धर्म कैसे कह सकोगे ?

अब एक मनके कर्तृत्व, भोक्तृत्वका अंश और रह जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं मन भी कोई प्रत्यक्ष-गोचर नहीं बल्कि एक आनुमानिक पदार्थ है और उसकी भी सत्ता स्वीकार करनेके लिए विशेष कारण हैं। साधारणतः हमारी अनुभूतिकी प्रक्रियामें इन्द्रिय और ज्ञेय पदार्थका सन्निकर्ष आवश्यक है। उन दोनोंके सन्निकर्षसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु कभी कभी हमें ऐसा भी अनुभव होता है कि इन्द्रिय-अर्थका सन्निकर्ष रहते हुए भी ज्ञान पैदा नहीं होता। उदाहरणके लिए, हम यदि किसी समय किसी विशेष कार्यमें तन्मय हो रहे हों या किसी विशेष चिन्तामें ग्रस्त हों, तो बहुधा अपने आसपास या सामनेसे आने जाने-वाले व्यक्तियोंका भी भान हमें नहीं होता। ऐसे अवसरपर ज्ञान न होनेका कारण यही कहा करते हैं कि हमारा मन दूसरी ओर लगा

था। दार्शनिक दृष्टिकोणसे कल्पित मनकी स्थिति स्पष्ट करनेके लिए हमारे इस उत्तरमें पर्याप्त सामग्री मौजूद है। एक समयमें अनेक बाह्य इन्द्रियोंका अपने अपने विषयके साथ सम्बन्ध संभावित है; परन्तु फिर भी एक समयमें अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इसीलिए बीचमें एक अन्तःकरणके रूपमें मनकी कल्पना की जाती है। बाह्य इन्द्रियाँ नियत-विषय हैं, अर्थात् चक्षु रूपका, श्रोता शब्दका, घ्राण गन्धका, रसना रसका और त्वचा स्पर्शका ही ग्रहण कर सकती हैं; परन्तु मन सर्व-विषय है। अन्य इन्द्रियोंकी भाँति उसका विषय नियत नहीं है; बल्कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, और सुख-दुःख आदि सबका ग्रहण उसके द्वारा होता है। बाह्य इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न होनेके लिए मनःसंपर्ककी आवश्यकता है। यह मन स्वतः अणु होनेके कारण एक समयमें एक ही इन्द्रियके साथ संबद्ध हो सकता है। इसलिए एक समयमें अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार युगपत्—एक समयमें—अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति न होने देनेका श्रेय मनको दिया जा सकता है और उसीके उपपादनके लिए मनःकल्पनाका प्रयोजन है। न्याय सूत्रोंके प्रणेता महर्षि गौतमने—

'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्'

के शब्दोंमें यही बात लिखकर मनका लक्षण किया है।

फलतः यह स्पष्ट है कि अनुभूतिके कर्त्ता (जीवात्मा) और उसके करण (इन्द्रियों) के बीच एक और माध्यमिक अन्तःकरणकी आवश्यकता है। उसके बिना काम चल ही नहीं सकता। भारतीय दर्शन-शास्त्रका मन उसी आवश्यकताकी पूर्ति करता है।

अनुभूति-प्रक्रियामें मनकी स्थिति इस माध्यमिक करणके रूपमें ही समझी जा सकती है। मनकी इस स्थितिको समझ लेनेके बाद हम अपने नास्तिक आलोचकोंसे पूछते हैं कि क्या अब भी वह मनको ही कर्त्ता भोक्ता कहनेका साहस कर सकेंगे? नहीं, कभी नहीं, कदापि नहीं। यदि कोई थोड़ी देरके लिए अनुभूतिके कर्त्ताका नाम मन ही रखना चाहे, तो भी मनःस्थानीय एक माध्यमिक करणकी अपेक्षा अवश्य होगी। उसके बिना अनुभूतिकी व्यवस्था ही संभव नहीं। ऐसी अवस्थामें आत्माका नाम मन रखना केवल संज्ञाभेद मात्र होगा, वस्तुभेद नहीं। फलतः संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि शरीर, इन्द्रिय और मनसे अतिरिक्त एक चेतन आत्माकी सत्ता स्वीकार किये बिना नास्तिक पक्षका निस्तार नहीं है, उसके माने बिना कर्तृत्व भोक्तृत्वकी उपपत्ति कहीं अन्यत्र कर सकना उनके लिए सर्वथा असंभव है।

इस प्रकार आस्तिक पक्षकी प्रबलतर युक्तियोंके आधारपर अतिरिक्त आत्माकी सत्ता स्वीकार करनेके साथ ही उसके स्वरूप-निर्णयका प्रश्न भी स्वतः हल हो जाता है। अबतक हम इस सम्बन्धमें जो कुछ लिख आये हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि जीवात्मा नित्य है, अजर है, अमर है। वह स्वयं कर्म करता है और उसका फल-भोगता है। जीवात्माका स्वरूप कहिए, उसकी विशेषता कहिए या उसका गुण कहिए। यह नित्यत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही उसका सर्वस्व है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

कर्म-मीमांसा

जीवात्माका कर्तृत्व और भोक्तृत्व विश्व-पहेलीको सुलझानेका एक उत्कृष्टतम साधन है। भारतीय दार्शनिकोंने इसी कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी नींवपर अपने कर्मवाद और पुनर्जन्म जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंकी स्थापना की है। इन सिद्धान्तोंके द्वारा देहातिरिक्त जीवात्माकी एक नित्य-सत्तासम्बन्धी विचारोंको प्रोत्साहन मिलता है और विश्वके भीतर प्रतिपल और प्रतिस्थल अनुभव होनेवाले वैषम्यका उपपादन भी एक मात्र उन्हींके सहारे होता है। जिन विचारकोंके मस्तिष्कमें नित्यात्मवाद, कर्मवाद और पुनर्जन्मके विचारोंका समुचित समावेश नहीं हो सका है, उनका विश्ववैषम्यका उपपादन भी सर्वथा असुन्दर हुआ है। उसमें वह सौन्दर्य नहीं है, वह तेज नहीं है, और वह कान्ति नहीं है, जो दूसरोंके ऊपर प्रभाव डालकर उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सके। और जो विचारपद्धति दार्शनिक भावनाओंका सन्तोषजनक समाधान नहीं कर सकती, उसे हम क्या कोई भी निष्पक्ष विचारक आदर्श या सर्वोत्तम कैसे कह सकेगा?

विश्वका वैषम्य सार्वजनीन अनुभूतिका विषय है, उसमें कल्पनाको स्थान नहीं है। विश्वके चर-अचर, स्थावर-जंगम या जड़ और चेतन भेद स्फुटतम हैं। अचर, स्थावर या जड़-जगत्के अवान्तर भेदोंकी उपेक्षा करके यदि केवल एक मात्र चेतन-जगत्के अवान्तर

भेदोंकी परिगणनाका प्रयास भी किया जाय, तो उसमें भी सफलता प्राप्त हो सकना असम्भव है। चेतन प्राणियोंकी अपरिमित योनियाँ, प्रत्येक योनिकी अवान्तर जातियाँ और प्रत्येक जातिकी अनन्त व्यक्तियाँ, यह सब अनन्त हैं, अपरिमित हैं, अपरिसंख्येय हैं। इन सबमें परस्पर कितना वैषम्य है! जलचर, थलचर और नभचर प्रत्येक योनिके प्राणियोंकी परिस्थितियाँ भिन्न हैं, उनकी क्रियायें भिन्न हैं, उनके सुख-दुःखका भोग भिन्न है। फिर एक ही जातिके सुख-दुःखमें, उसकी परिस्थितियोंसे भी तो तारतम्य होता है। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य परिस्थितिका एक भेद है। उसीमें सुख-दुःखका तार-तम्य कितना विषम हो जाता है, आज परतंत्र भारतीयोंको उसके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है। दासत्व-शृंखलामें जकड़ा हुआ भारतीय हृदय जिस तड़पनका अनुभव करता है, वह उसी विश्व-वैषम्यका अकिंचन उदाहरण है। फिर प्रत्येक व्यक्तिके सुख-दुःखमें कितना वैषम्य है? एक राजा हैं, रईस हैं जिनके लिए पद्माकरने लिखा है—

गुलगुली गिलमैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं, चाँदनी है, चिक हैं, चिरागनकी माला है। कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा है, सजी सेज है, सुराही है, सुरा है और प्याला है। सिसिरके पालाकौ न व्यापत कसाला तिन्हें, जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं। तान तुक ताला हैं, विनोदके रसाला हैं, सुबाला हैं, दुशाला हैं, विशाला चित्रशाला हैं।

दूसरी ओर वह निर्धन मज़दूर और किसान हैं, जिन्हें खानेको रोटी नहीं है, पहननेको कपड़े नहीं हैं और रहनेको घर नहीं है। माघ और पूसकी कटीली रातें जिन्होंने पेटमें घुटने अड़ाकर और

उन्हीं महीनोंके बर्फीले दिन सूर्य भगवान्‌के सहारे या धधकते हुए अलावके सामने बैठकर बिता दिये हैं।

रात्रौ जानु दिवा भानुः कृशानुः संध्ययोर्द्वयोः।
इत्थं शीतं मया नीतं जानुभानुकृशानुभिः॥

अपरिमित सुख और अपरिमित दुःख, अनन्त सम्पत्ति और अनन्त आपत्ति, चरम वैभव और चरम दारिद्र्य, यह सब इसी विश्वकी तो वस्तुएँ हैं और हममेंसे किसके अनुभवमें प्रतिदिन नहीं आतीं? फिर प्रश्न तो यह है कि यह वैषम्य क्यों है? कोई सुखी और कोई दुखी, कोई धनी और कोई निर्धन क्यों है? राजा और रंक, विद्वान् और मूर्ख, रोगी और स्वस्थकी भेद-भावना कहाँसे आई? इन्हीं प्रश्नोंका उत्तर भारतीय विचारकोंका कर्मवादका सिद्धान्त दे रहा है। हमारे विचारमें इससे अधिक सुन्दर, आकर्षक और युक्तियुक्त उपपादन और कुछ हो ही नहीं सकता है।

कर्मवादपर विश्वास करनेके साथ ही नित्यात्मवाद और पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंपर विश्वास करना आवश्यक एवं अनिवार्य सा हो जाता है। उनके ऊपर विश्वास किये बिना केवल कर्मवादका कोई विशेष मूल्य नहीं है, वह एक उपहासयोग्य विचार प्रतीत होता है। फिर भी संसारमें इस प्रकारके विचारोंकी कमी नहीं है, जो पुनर्जन्म और नित्य आत्माकी सत्ता स्वीकार किये बिना भी कर्मवादपर विश्वास करते हैं। कुरान और बाइबिल इन्हीं विचारोंके समर्थक हैं। परन्तु हमारे विचारमें इस प्रकारका केवल कर्मवाद भी विश्व-वैषम्यकी विषम पहेलीको सुलझानेमें सर्वथा असमर्थ है। बाइबिलकी सृष्टि-प्रक्रियाका उल्लेख हम यथास्थान कर चुके हैं। वहींपर चेतन प्राणियोंके भीतर

जीवनोत्पत्तिका भी ज़िक्र हुआ है। मनुष्यका मिट्टीका पुतला बनाकर परमात्माने उसमें रूह फूँक दी और पुतलेमें चेतनता आगई। इससे पहले उस आत्माकी सत्ता नहीं थी। अर्थात् इन चेतन आत्माओंके विधायक वही करुणामय भगवान् हैं। फिर उन्हीं करुणामय भगवान्ने संसारमें दुःखकी सृष्टि क्यों की? वह तो इतने दयालु हैं, जो पुण्यात्माओंके ही नहीं पापियोंके दुःखमें भी रोते हैं, पापियोंको देखकर उनका हृदय इतना विकल हो उठा कि उन्होंने अपना महात्मा ईसा जैसा इकलौता बेटा उनके लिए भेजा, जो अपने इसी उद्देशकी पूर्तिके लिए विपक्षियोंद्वारा सूलीपर चढ़ा दिया गया। ऐसे करुणामय, दयालु न्यायकारी भगवान्ने दुःखकी सृष्टि क्यों कर दी, यह आश्चर्यकी बात है। फिर यदि सब प्राणी समान अवस्थामें ही पैदा हुए होते, तो भी कुशल थी, परन्तु हुआ तो ऐसा नहीं। संसारके दुःखी सुखी प्राणियोंकी सत्ता तो सृष्टिके प्रारम्भसे चली आ रही है। करुणामय और न्यायकारी भगवान्के द्वारा अकारण ही इस प्रकारके वैषम्यकी उत्पत्ति और भी आश्चर्यमें डाल देती है। कर्मवाद सिद्धान्तकी सृष्टि जिस वैषम्यको दूर करनेके लिए की गई, वह पुनर्जन्म और नित्यात्मवादका सहारा मिले बिना पूरा हो ही नहीं सकता। यही नहीं, बल्कि उनके बिना केवल कर्मवादका रूप बड़ा विकृत हो उठता है। बाइबिल और कुरानका कर्मवाद सचमुच उसी कोटिमें जा पहुँचा है। उनके यहाँ जीवात्मा आदिमान् है—परमात्माकी फूँकके साथ उत्पन्न हुआ है—परन्तु उसका अन्त नहीं है। मरनेके बाद भी उसकी स्थिति रहती है। अपने कर्मोंके अनुसार वह या तो अनन्तकाल तक स्वर्गीय सुख-समृद्धि और वैभवका अनुभव करता है और या फिर अनन्तकाल

तक नारकीय यंत्रणायें भोगता है। स्वर्गमें या नरकमें जहाँ कहीं एक बार भेज दिया गया, वहाँसे फिर उसका छुटकारा नहीं, अनन्तकाल तक उसे वहीं रहना होगा। यही बाइबिल और कुरानके कर्मवादका आशय है। परन्तु क्या सान्त कर्मोंके इस अनन्त फलको दार्शनिक विमर्श स्वीकार कर सकेगा? हमें तो सहयोगी-विहीन इस अधूरे कर्मवादमें दार्शनिक विमर्शकी अपेक्षा अन्ध-विश्वासकी मात्रा ही प्रधान प्रतीत होती है। इसी अन्ध-विश्वासके कारण कर्मवाद जैसे आदश उज्ज्वल और सयुक्तिक सिद्धान्तकी बुरी तरह छीछालेदर हुई है।

कर्मवादका स्वरूप

मोटे रूपसे कर्मवाद सिद्धान्तका आशय यह है कि मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार फल-भोग करता है। यदि हमारे कर्मोंका झुकाव सामाजिक व्यवस्थाके अनुसार मानी गई भलाईकी ओर है, तो हमारे लिए उसका परिणाम भी सुखमय होगा, इसके विपरीत यदि हमारे कर्म बुराई या पापकी ओर झुके हुए हैं, तो उनका फल हमारे लिए दुःखद होगा। अर्थात् हमारे सुख-दुःखकी व्यवस्था बहुधा हमारे पूर्व कर्मोंका परिणाम होती है। भले कर्मोंका भला फल और बुरे कर्मोंका बुरा फल अवश्यम्भावी है, उसका उल्लंघन नहीं हो सकता, विपर्यय नहीं हो सकता और सर्वथा परित्याग भी नहीं हो सकता। इसी लिए कहा है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

कर्मवादका यह स्वरूप एक ऐसी वस्तु है, जिसके माने बिना संसारकी कोई व्यवस्था किसी प्रकार भी स्थिर नहीं रह सकती। विशेषतः मानव-समाजकी व्यवस्थाको स्थिर रखनेके लिए उसका मानना

एक अनिवार्य बात है। इसीलिए हम देखते हैं कि सुदूर अतीतमें भी प्रत्येक देश, जाति और लोगोंने किसी न किसी रूपमें उसे अवश्य स्वीकार किया है। यहाँ तक कि देहातिरिक्त जीवात्माकी स्वतंत्र सत्तासे सर्वथा इन्कार करनेवाले कट्टर नास्तिकोंका निस्तार भी उसी स्वीकार किये बिना नहीं हो सका है। हैकल आदि पाश्चात्य नास्तिकोंने भी उसे माना है और भारतीय क्षेत्रमें नास्तिक श्रेणीमें गिने जानेवाले महात्मा बुद्ध तो कर्मवादके पक्के समर्थकोंमें हैं। उनका आचार-शास्त्र सांसारिक व्यवस्थाका आदर्श है और प्रथम श्रेणीका आचार-शास्त्र है। उसमें और वैदिक या किसी भी आस्तिक आचार-शास्त्रमें विशेष भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि कर्मवाद कहीं तो आचार-शास्त्र या सामाजिक व्यवस्थाका एक नियम मात्र है और कहीं उसका सम्बन्ध धर्माधर्मके साथ है, जिनके ऊपर मनुष्यके जन्मातरकी व्यवस्था निर्भर रहती है।

कर्म शब्दका साधारण अर्थ क्रिया है। दार्शनिक दृष्टिसे महर्षि कणादने अपने वैशेषिक दर्शनमें कर्मका लक्षण—

'एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्'

सूत्रके द्वारा किया है। इस लक्षणको ध्यानमें रखते हुए भी क्रियामात्रके लिए कर्म शब्दका प्रयोग किया जा सकता है; परन्तु फिर भी कर्मवादके इस प्रकरणमें कर्म शब्द सामान्य क्रिया मात्रका वाचक नहीं, बल्कि उसका अपना विशेष अर्थ है। मनुष्य-जीवनकी सारी क्रियाओंका विशेष उपयोग कर्मवादमें नहीं है। श्वास-प्रश्वास भी मानव-क्रियाएँ हैं और निमेषोन्मेष भी, परन्तु इन और इसी श्रेणीकी अन्यान्य मानव-चेष्टाओंको कर्म-कोटिमें रखकर भी उनका कोई विशेष परिणाम

नहीं निकला जा सकता। इसीलिए शास्त्रीय विधानोंमें विहित नैतिक कर्मोंके अनुष्ठानसे किसी प्रकारके धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। हाँ, उनका अनुष्ठान करनेपर हानि—पाप अवश्य होता है, ऐसा विशेषज्ञोंका विचार है।

तब फिर किस प्रकारकी क्रियाओंका परिगणन कर्मवादको अभीष्ट है, यह विचारणीय प्रश्न है। ' जो करेगा सो भरेगा ' की प्रसिद्ध लोकोक्तिके अनुसार और समुचित व्यवस्थाकी दृष्टिसे भी यही उचित प्रतीत होता है कि मनुष्यको उन्हीं कर्मोंके फल-भोगके लिए बाधित होना पड़ेगा जिनका कि वह वस्तुतः कर्त्ता है, जिनका कि उत्तरदायित्व उसके ऊपर है। साधारण रूपसे हरएक क्रियाका करनेवाला कर्त्ता होता है; परन्तु फिर भी यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो कर्तृत्वके लिए थोड़ीसी और विशेषताका प्रयोजन होता है और वह है करनेवाले व्यक्तिकी स्वतंत्रता। जिस क्रियाके करनेमें व्यक्ति स्वतंत्र होता है, उसके करने न करनेका सारा उत्तरदायित्व उसके ऊपर होता है। इसलिए यह भी उचित ही है कि उससे उत्पन्न हुए परिणाम या फलका भोग भी वही करे। परन्तु जिन स्थितियोंमें मोटे रूपसे किसी कामका करनेवाला व्यक्ति उसके करने न करनेमें स्वतंत्र नहीं है, बल्कि किसी दूसरेके आदेशसे विवश होकर कार्य करता है, उन स्थितियोंमें इस प्रकारके कर्मोंका करनेवाला नहीं बल्कि करानेवाला उत्तरदाता समझा जाता है। इसलिए करानेवाला ही बहुधा फल-भोगके लिए जिम्मेदार होता है। इस प्रकारके अनेक उदाहरण हमें लोकमें देखनेको मिल सकते हैं। युद्ध-क्षेत्रमें अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर जूझनेवाले सैनिकोंके ऊपर नहीं बल्कि उनके संचालक, अध्यक्ष, सेनापति या राजाके ऊपर

ही उस युद्धका उत्तरदायित्व होता है। युद्ध करनेवाले, सैनिक नहीं बल्कि राजा समझे जाते हैं। क्योंकि सैनिक स्वयं स्वतंत्र नहीं है, अर्थात् स्वतंत्रता और कर्तृत्वका अविनाभाव सम्बन्ध है। विना स्वतंत्रताके कर्तृत्व वन ही नहीं सकता। यही भाव महर्षि पाणिनिके 'स्वतंत्रः कर्त्ता' सूत्रसे प्रतीत होता है। फलतः कर्मवाद प्रकरणमें उन्हीं मानव-क्रियाओंके परिगणनका प्रयोजन है जिनके करनेमें वह स्वतंत्र कहा जा सकता है और उन्हींके फल भोगनेके लिए उसे बाधित होना पड़ेगा। अर्थात् जहाँ प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य है, वहीं कर्तृत्व है और जहाँ कर्तृत्व है, वहीं भोक्तृत्व है।

कर्म-विपाक और आत्म-स्वातंत्र्य

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सम्बन्धी इस नियमको समझ लेनेके बाद वस्तुतः कर्म-विपाक और आत्म-स्वातंत्र्य या परिस्थितिवाद और प्रवृत्ति-स्वातंत्र्यके विवाद अत्यन्त हीनश्रेणीके और निष्प्रयोजन प्रतीत होते हैं। पौरस्त्य जगत्में कर्मवाद-सिद्धान्तके रहस्यसे अनभिज्ञ, सुकुमार-मतिके लोगोंमें इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें एक भ्रान्त धारणा उत्पन्न हुई पाई जाती है। उनका कहना है कि हम जो कुछ करते हैं वह सब परमात्मा करवाता है और जो कुछ भोगते हैं वह सब पूर्व-जन्मके कर्मोंका फल है। उदाहरणके लिए कोई व्यक्ति चोरी करता है। इस चोरीकी दार्शनिक व्याख्या इन लोगोंके विचारानुसार यह होगी कि जिस व्यक्तिकी चोरी हुई है, उसके भाग्यमें इस प्रकारका आर्थिक कष्टभोग लिखा था और दूसरी ओर चोरी करनेवाले व्यक्तिको इस प्रकार धनप्राप्ति उसके पूर्व कर्मोंका फल है। दोनोंके अदृष्टके अनुसार परमात्माने चोरको इस कर्ममें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा

की। अर्थात् इस चोरीमें चोरका विशेष दोष नहीं है। मनुष्य भला बुरा जो कुछ करता है, वह सब उसके अदृष्ट और परमात्माकी प्रेरणासे होता है। यह विचार कर्मवादके अति प्रसङ्गका परिणाम है। इसके स्वीकार करनेके बाद तो वस्तुतः भोगवादके लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता और न उस अवस्थामें मनुष्यमें कर्तृत्व-भावना शेष रहती है, अर्थात् उस कार्यके करनेमें किसी प्रकारका उत्तरदायित्व पुरुषपर नहीं होता। वह तो जड़ मशीनकीसी एक चेष्टा हुई। जिस प्रकार इधर मशीनका पुर्जा घुमाया और उधर कार्य हो गया। उसमें सोच-विचारको स्थान नहीं है, पुर्जा घुमानेके साथ ही जो कुछ होना है वह होकर ही रुकेगा। मशीनका उसमें कोई उत्तरदायित्व नहीं है। इसी प्रकारकी सारी मानव-चेष्टाएँ हो जावेंगी। ऐसी अवस्थामें मनुष्यको उसके फल-भोगके लिए जिम्मेदार ठहराना कहाँ तक युक्तिसंगत कहा जा सकता है? और मनुष्यको कर्म-फल-भोगके लिए उत्तरदाता ठहराये विना न तो विश्व-वैषम्यका उपपादन हो सकता है और न संसारकी व्यवस्था स्थिर रह सकती है। यदि आज चोरको चोरीके लिए उत्तरदाता और दण्डनीय समझा जाना छोड़ दिया जाय, तो फिर क्या सर्वसाधारणकी प्रवृत्ति उस ओर न होगी? इसलिए सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षाके निमित्त और विश्व-वैषम्यके उपपादनके लिए मनुष्योंको कर्म-फल-भोगके लिए उत्तरदाता ठहराना आवश्यक और अनिवार्य है। इस प्रकारका उत्तरदायित्व तभी सम्भव है जब कि मनुष्यको कार्य करने या न करनेकी स्वतंत्रता दी जाय। इसीलिए आस्तिकोंके कर्मवाद सिद्धान्तमें जीवात्माको कर्म करनेमें स्वतंत्र स्वीकार किया गया है। हाँ, उसका फल-भोग उसके अधीन नहीं है।

परिस्थितिवाद और प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य

पौरस्त्य जगत्‌में जिस प्रकार कर्म-विपाक कभी कभी आत्म-स्वातंत्र्यका विघातक समझा गया है, उसी प्रकार पाश्चात्य जगत्‌में परिस्थितिवाद और प्रवृत्ति-स्वातंत्र्यका द्वन्द्वयुद्ध हुआ है। हम कह चुके हैं कि कर्मवाद सिद्धान्त केवल एक धार्मिक प्रश्न ही नहीं है; बल्कि वह वस्तुतः समाजकी सुख-शान्ति और व्यवस्थाका आधार है। इसलिए न केवल आस्तिकोंको ही बल्कि कट्टर नास्तिकोंको भी किसी न किसी रूपमें उसे स्वीकार करना पड़ा है। प्रवृत्ति-स्वातंत्र्यमें परिस्थितिवादका यह पचड़ा प्रायः आत्म-सत्तासे इन्कार करनेवाले इन्हीं पाश्चात्य नास्तिकोंकी चर्चाका विषय रहा है। इस परिस्थितिवादका आशय यह है कि मनुष्य वस्तुतः किसी कार्यके करने न करनेमें स्वतंत्र नहीं, बल्कि परिस्थितियाँ उसका नियंत्रण करती हैं। इस नियंत्रणमें कभी बाह्य-परिस्थितियों, कभी अन्तःपरिस्थितियों और कभी दोनों प्रकारकी परिस्थितियोंका हाथ रहता है। मनुष्य जो करता है और जो कुछ नहीं करता है, सब इन्हीं परिस्थितियोंके अनुशासनका प्रभाव है। उदाहरणके लिए कभी कोई भला आदमी चोरों, डाकुओं या दुराचारियोंके चक्करमें जा फँसता है और अपने चारों ओरकी बाह्य परिस्थितियोंके वशीभूत हो अज्ञात रूपसे उन्हीं व्यसनोंमें फँसता चला जाता है। व्यसनोंके करने न करनेमें उस व्यक्तिकी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं है, जो कुछ परिस्थितियोंका आदेश हुआ उसके पालनमें ही मनुष्यके कर्तव्यकी इतिश्री हो जाती है। कभी कभी कर्तव्य और अकर्तव्यके बीच हमें एक अन्तर्द्वन्द्वकी भावना दिखाई देती है। जब कि धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य, या कर्तव्य और अकर्तव्यके दो विरोधी

मार्ग पारस्परिक आकर्षण-प्रतिस्पर्धाके साथ उपस्थित होते हैं, हम सहसा अपने कर्तव्यका निर्णय नहीं कर पाते । ऐसे समयमें हमारे हृदयके भीतर कर्तव्य और अकर्तव्यका जो अन्तर्द्वन्द्व होता है, वह भी इन विचारकोंकी दृष्टिमें चेतन आत्मा या स्वतंत्र इच्छाका परिचायक नहीं है, बल्कि दो विरुद्ध परिस्थितियोंकी प्रतिद्वन्द्विताका परिणाम है । इनमेंसे भी किसी एक मार्गका निर्वाचन मनुष्यकी स्वतंत्र इच्छासे नहीं होता, बल्कि जिस प्रकारकी परिस्थितिमें अधिक शक्ति और अधिक सामर्थ्य होता है वह अपने अनुकूल मार्ग ग्रहण करनेके लिए प्रेरित करती है । मनुष्य मशीनकी भाँति परिस्थितिके आदेशका पालन किया करता है । यही उस अन्तर्द्वन्दका रहस्य और स्फुट परिणाम है । मानव-प्रवृत्ति मात्रका नियंत्रण करनेवाली यह परिस्थितियाँ पूर्ववर्तिनी घटनाओंके सूक्ष्म संस्कार मात्र हैं ।

पिछले कर्म-विपाक और इस परिस्थितिवादकी युक्तियोंमें विशेष अन्तर नहीं है । जो कुछ है, उसे हम केवल स्वरूपभेद कह सकते हैं, वह श्रेणी, जाति या प्रकारका भेद नहीं है । इसलिए परिस्थितिवादकी आलोचनाके लिए भी हमें किसी नूतन मार्गके अवलम्ब करनेका प्रयोजन प्रतीत नहीं होता । कर्म-विपाककी आलोचनामें हम लिख चुके हैं कि सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षाके निमित्त भोगवादका मानना अनिवार्य है, भोगवादके लिए कर्तृत्वकी अपेक्षा है और कर्तृत्व बिना प्रवृत्ति-स्वातंत्र्यके सर्वथा अनुपपन्न है । ठीक वही बात इस परिस्थितिवादकी आलोचनामें भी कही जा सकती है । इसके अतिरिक्त यदि हम प्रवृत्ति-स्वातंत्र्यको न मानें, तो आचार-शास्त्रका क्या अर्थ रह जाता है? मनुष्यको यह करना चाहिए और यह नहीं करना

चाहिए, मैं यह कर सकता हूँ और यह नहीं कर सकता, इन सब वाक्योंका मूल्य क्या है? आचार-शास्त्र रद्दीकी टोकरीमें फेंकनेकी चीज़ है और मनुष्यकी आत्म-शक्ति या आत्म-विश्वास विडम्बना मात्र है। इसी लिए D'Arcy ने लिखा है—

"If the freedom of the will in every sense be given up and Necessity prove vitctorious, the ethical 'ought' is left without meaning and morality becomes a polite fiction."

A Short Study of Ethics P. 22.

अर्थात् यदि प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य या इच्छा-स्वातंत्र्यका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय और परिस्थितिवादकी विजय स्वीकार कर ली जाय, तो आचार-शास्त्रका 'चाहिए' यह नितान्त निरर्थक हो जाता है, उसमें कोई ज़ोर नहीं रह जाता, और स्वयं सदाचार भी मुलम्मा चढ़ा मिथ्याचार मात्र रह जाता है।

इन पंक्तियोंके लिखनेका यह आशय नहीं कि हम परिस्थितिवादकी सत्ता बिलकुल मिटा डालना चाहते हैं। हम मानते हैं कि परिस्थितियोंका प्रभाव पर्याप्त रूपमें मानव-चरित्रपर पड़ता है। हम यह भी मानते हैं कि बाह्य परिस्थितियाँ या अन्तःपरिस्थितियाँ बहुत बड़े अंशमें मानव-प्रवृत्तिका नियंत्रण करती हैं; फिर भी हम उन्हें अनुचित महत्त्व देनेके पक्षमें नहीं हैं। हम यह नहीं चाहते कि व्यक्तियोंके सारे सामर्थ्यको तिलांजलि देकर उन्हें एकदम चेतनारहित जड़ मशीन बना डाला जाय। परिस्थितिवादको इतना अधिक महत्त्व देना और आचार-शास्त्र एवं सामाजिक व्यवस्थाके कलेजेपर ज़हरीली छुरी फेर देना एक बात है। एक बात और है। परिस्थितियाँ किस

प्रकार मानव-चरित्रका नियंत्रण करती हैं, यह साधारण समाजमें देखनेको मिलता है; परन्तु प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य या इच्छाशक्ति परिस्थितियोंके ऊपर किस प्रकार विजय प्राप्त करती है, यह महात्माओंके चरित्रमें प्रस्फुटित होता है। दयानन्द, ईसा और बुद्धके ऊपर परिस्थितियोंका शासन नहीं रहा है। ऐसे महापुरुष परिस्थितियोंकी सीमा शक्ति और साम्राज्यपर सदैव विजयी हुए हैं। उनकी एकान्त उपेक्षा कर, आचार-शास्त्रकी निष्ठुर हत्या कर और सामाजिक व्यवस्थाको पैरोंतले रौंध कर निरर्थक परिस्थितिवादका पोषण करना बुद्धिमत्ताका कार्य नहीं है। ऐसे लोगोंके लिए तो महाकवि कालिदासके शब्दोंमें हम यही कह सकते हैं—

अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि से त्वम्

कर्म-विभाग

कर्म-मीमांसाके इस प्रकरणमें पूर्वीय विचारकोंकी दृष्टिसे कर्म-विभाग भी एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इन लोगोंने कर्मका विभाग कई प्रकारसे किया है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म एक विभाग है, नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म दूसरा प्रकार है, सकाम और निष्काम कर्म तीसरा प्रकार है। व्याकरणशास्त्रकी दृष्टिसे उत्पाद्य, विकार्य और आहार्य कर्म आदि अन्य अनेक प्रकार भी कर्म-विभागके पाये जाते हैं। इनमें पहला प्रकार किसी अंशतक दार्शनिक विभाग कहा जा सकता है। धार्मिक जगत्में भी यद्यपि उसका उपयोग हुआ है, फिर भी दार्शनिक भावना उसमें कुछ अधिक है। दूसरे और तीसरे विभागमें धार्मिक भावनाका प्राधान्य है, यद्यपि दर्शन-

शास्त्रने भी उनसे लाभ उठाया है। अन्तिम प्रकार केवल व्याकरण शास्त्रकी सम्मति है, हमारे लिए उसका किंचित् भी प्रयोजन नहीं है।

कर्मोंके संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण प्रकार फल-भोगकी दृष्टिसे विशेष उपयोगी हैं। साधारणतः संचित और क्रियमाण दो ही कर्म-भेद मुख्य हैं, प्रारब्ध संचितका ही एक विशेष भेद है। क्रियमाण कर्म वह हैं जिनका अनुष्ठान हम वर्तमानमें कर रहे हैं। जो कार्य अतीत कालमें किये जा चुके हैं और जिनका फल-भोग हमें करना पड़ेगा, उनकी गणना संचित कर्मोंमें की जाती है। भोगवादके विचारसे जिस कर्म-समूहका भोग एक परिमित समयमें एक साथ किया जा सकता है, उतने कर्म-समूहके भोगके लिए एक जन्म धारण करना पड़ता है। योग-दर्शनके व्यास-भाष्यमें महर्षि व्यासने यह प्रश्न उठाया है कि कर्माशय एक-भविक है अथवा अनेक-भविक। अर्थात् एक कर्मसे एक जन्म होता है, या एक कर्मसे अनेक जन्म होते हैं, अथवा अनेक कर्मोंसे एक जन्म होता है। अपनी विवेचनामें सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षाके निमित्त अन्तिम पक्ष अर्थात् कर्माशयकी एक-भविकता ही सिद्धान्त रूपसे उन्होंने स्थिर की है। पहले दो पक्षोंमेंसे किसीके भी स्वीकार करनेपर सामाजिक व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती। एक मनुष्य अपने जीवनमें अपरिमित, अपरिसंख्येय कर्म करता है। यदि उनमेंसे प्रत्येक कर्मके फल-भोगके लिए अलग अलग जन्म धारण करने पड़ें, तो मनुष्यके एक जन्मके कर्मोंका निपटारा ही अनन्त काल तक नहीं हो सकता, फिर वर्तमान जन्मके पुण्य या अपुण्य कर्मोंके भोगकी तो बारी आना ही कठिन है। इस लिए अत्यन्त क्लेश-साध्य पुण्य-कर्मोंके अनुष्ठानमें मानव-प्रवृत्तिका न

होना स्वाभाविक बात है। इसका दूसरा रूप यह हुआ कि सामाजिक सुख शान्ति और व्यवस्थाकी इतिश्री हो गई। यदि दूसरा पक्ष अर्थात् एक कर्मसे अनेक जन्मोंकी उत्पत्ति मान ली जावे, तब तो फल-भोगपर मनुष्यका अत्यन्त अविश्वास हो जायगा, जिसका आवश्यक और अनिवार्य परिणाम यह होगा कि बनी बनाई उस सारी व्यवस्थाकी जिसके लिए कर्मवाद और भोगवादकी स्थापना की गई थी नृशंसतापूर्ण हत्या हो जायगी। इस लिए विवश होकर कर्माशयकी एक-भविकताको स्थिर करना ही श्रेयस्कर ठहरता है। भाष्यकारके असली शब्दोंमें यह सारा प्रसंग इस प्रकार लिखा जा सकता है—

तत्रेदं विचार्यते, किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्, अथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति। द्वितीया विचारणा, किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति, अथाऽनेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति।

न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणं, कस्माद्; अनादिकालप्रचितस्याऽसंख्येयस्यावशिष्टकर्मणः साम्प्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति। न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणं, कस्माद्; अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, सचाप्यनिष्ट इति। न चानेक कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्, कस्माद्; तदनेकं जन्म युगपन्न संभवतीति क्रमेण वाच्यम्। तथा च पूर्वदोषानुसंगः।

तस्माज्जन्मप्रापणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रापणाभिव्यक्त एव प्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति, तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यते।

—साधनपाद, सूत्र १३

अर्थात्, अब हम इस बातकी आलोचना करते हैं कि क्या एक कर्म एक जन्मका कारण है अथवा एक कर्मसे अनेक जन्म होते हैं? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या अनेक कर्मोंसे अनेक जन्म होते हैं अथवा अनेक कर्म मिलकर एक जन्म पैदा करते हैं?

इनमेंसे पहला पक्ष अर्थात् एक कर्म एक जन्मका कारण होता है ठीक नहीं है, क्योंकि अनादिकालसे संचित और वर्तमानकालके अपरिसंख्येय कर्माशयमें फलक्रम अव्यवस्थित होनेसे जनसाधारणको भोगवादपर अत्यन्त अविश्वास हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर एक कर्मसे अनेक जन्मोंकी उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उन अपरिसंख्येय कर्मोंमेंसे एक एक कर्मसे ही जब अनेक जन्म होने लगे, तो अवशिष्ट कर्मोंके फल-भोगका अवसर ही कब आ सकेगा। तीसरा पक्ष—अनेक कर्मोंसे अनेक जन्म होते हैं—भी ठीक नहीं, क्योंकि उन अनेक जन्मोंकी उत्पत्ति एक साथ तो हो नहीं सकती। इसलिए अनेक कर्मोंसे क्रमिक अनेक जन्मोंकी उत्पत्तिका सिद्धान्त स्थिर करना होगा। ऐसी अवस्थामें फिर भी पूर्वोक्त दोषोंसे छुटकारा नहीं हो सकता।

इसलिए जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त संचित किया हुआ, नाना प्रकारका पुण्यापुण्य-कर्माशय, गौण और प्रधानरूपसे विभक्त हुआ मृत्युसे अभिव्यक्त होकर, मिलकर एक जन्मको पैदा करता है। उस जन्मकी आयु और उस आयुका भोग सब उसी कर्माशयके अनुसार नियत होता है।

इस प्रकार संचित कर्मोंके जिस भागसे इस जन्मकी उत्पत्ति हुई है, अर्थात् उनमेंसे जिन कर्मोंका फल-भोग आरम्भ हो गया है,

उनको प्रारब्ध कर्म कहते हैं। इन प्रारब्ध कर्मोंके अतिरिक्त संचित कर्मोंका बहुत बड़ा भाग सुषुप्त अवस्थामें बैठा रहता है। इसको ही संचित कर्म शब्दसे कहा जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, दार्शनिक दृष्टिसे कर्मोंका सबसे उपयोगी विभाग यही है।

कर्मयोग और कर्म-संन्यास

कर्म-फ़िलासफ़ीके बहुतसे अंश अभी ऐसे रह गये हैं जिनपर पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टिकोणसे प्रकाश डालनेका अवसर है, परन्तु उन सबपर आलोचना कर सकना इस समय हमारी शक्ति और पुस्तकके कलेवरके बाहरकी बात है। फिर भी इस परिच्छेदको समाप्त करते हुए ज्ञान और कर्म, या कर्मयोग और कर्म-संन्यासके सिद्धान्तोंपर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। ज्ञान और कर्मके सिद्धान्त भारतीय विचारक्षेत्रमें गरमागरम आलोचनाके विषय रहे हैं। न केवल सैद्धान्तिक आलोचनामें ही बल्कि भारत-वर्षके सामाजिक चरित्र-निर्माणमें भी उन्होंने पर्याप्त भाग लिया है। इन दोनों विचारोंके समर्थक दो भिन्न दर्शनोंके अनुयायी समझे जाते हैं। कर्मकाण्ड मीमांसाका पक्ष है और ज्ञानकाण्डके पोषणका भार वेदान्त-दर्शनने ले रखा है। अन्य आस्तिक दर्शनोंकी भाँति मनुष्यके अन्तिम ध्येय मोक्षका अन्वेषण और उसकी प्राप्तिके पथ-प्रदर्शनका यत्न इन दोनों दर्शनोंने भी किया है और उस पथप्रदर्शनके परिणाम रूपमें ही ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्गका जन्म हुआ है। साधारण रूपसे यह कहा जा सकता है कि मीमांसापद्धतिके अनुसार मानव-जीवनके ध्येयकी प्राप्ति एक मात्र यज्ञयागादि श्रौत कर्मोंके अनुष्ठानसे ही हो सकती है, तो वेदान्त-विचारक एक मात्र ज्ञानको

उसका साधन मानते हैं। मीमांसा ज्ञानकी ओरसे बिल्कुल उदासीन है और वेदान्त कर्मकाण्डको मोक्ष-प्राप्तिका प्रतिबन्धक समझता है। भारतवर्षके माध्यमिक युगमें इन दोनों विचारोंमें घोर संघर्ष होता रहा है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि इन दोनों विचारोंके कारण तात्कालिक भारतकी सामाजिक अवस्थाको कितनी भयानक क्षति उठानी पड़ी है। एक ओर मीमांसाके कर्मकाण्डने धर्मके नामपर और वेदोंकी आड़में पाशव-प्रवृत्तिका प्रचार किया, तो दूसरी ओर वेदान्तके जगन्मिथ्यात्ववादने भारतवर्षके शारीरिक और सामाजिक सामर्थ्यका दिवाला निकाल दिया। वह युग जिसे कि इतिहासके शब्दोंमें याज्ञिक काल कहा जा सकता है, भारतीय इतिहासका शायद सबसे अधिक गंदला—गर्हिततम—अध्याय है। अगर उस युगके विचारोंके अनुसार किसी आदर्श नगरकी कल्पना हम करें, तो उस कल्पना मात्रसे हमारा सिर चक्कर खाने लगता है। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि उस समयका आदर्श नगर हमारे आजके गन्देसे गन्दे बूचड़खानेसे भी अधिक गन्दा है। बूचड़खानेमें मांस कटता है, उसके ढेरके ढेर रक्खे रहते हैं; परन्तु बहुत सफ़ाईके साथ। यदि मनुष्य उसे देख न सके, तो उसके पाससे बिना किसी क्लेश और ग्लानिके कमसे कम निश्चिन्त भावसे वह निकल जा सकता है। परन्तु इस आदर्श नगरमें तो बिना नाक दबाये इधरसे उधर निकल सकना भी सर्वथा असम्भव है। जगह जगहपर यज्ञकुण्डोंसे पवित्र सुगन्धिके स्थानपर होमे गये अधजले मांसकी चिरांइंध आ रही होगी। किसी गृहस्थके घर यदि अतिथि आ गया, तो किसी बेचारी निरपराध बछियाकी जानपर आ बनी। उसके टुकड़े टुकड़े करके बटलोईमें पकाये जा रहे होंगे और न जाने कैसी असह्य दुर्गन्धिसे

नगरका वायुमण्डल दूषित हो रहा होगा। इसपर आश्चर्य यह कि यह सारा अत्याचार और अनाचार भारतीय धर्मके सर्वस्व भगवान् वेदका सहारा लेकर किया जाता था। इसका आवश्यक परिणाम इसके सिवाय क्या हो सकता था कि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति ऐसी बेतुकी बातोंका विधान करनेवाले वेदोंको दूरसे नमस्कार कर ले? हम देखते हैं कि वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही है। महात्मा बुद्ध पक्के आस्तिक कुलमें उत्पन्न हुए थे; परन्तु उन धर्माचार्योंके इस प्रकारके घृणित, हिंसामय और अनाचारमय अनुष्ठानोंने ही उनके हृदयमें वह क्रान्ति मचा दी, जिसने कुमार सिद्धार्थको महात्मा बुद्धके रूपमें परिवर्तित कर दिया। एक ओर मीमांसाके कर्मकाण्डने चरमसीमापर पहुँचकर गीताके—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

के अनुसार महात्मा बुद्धको जन्म दिया, तो दूसरी ओर जैसे कि हम चार्वाक दर्शनके प्रकरणमें लिख चुके हैं वेदान्तके विचारोंने अपनी चरम सीमापर पहुँचकर महात्मा चार्वाकको पैदा किया। इन दोनों युग-विधाताओंके जन्मसे पहलेकी स्थिति भारतीय हित-कामनाकी दृष्टिसे अभीष्ट नहीं कही जा सकती।

दार्शनिक विचारोंके इस संघर्षने भारतीय मनोवृत्तिमें कर्मयोग और कर्म-संन्यासकी विपरीत भावनाओंको विकसित किया। कर्म-संन्यास उन्नतिका नहीं पतनका कारण है, जीवनका नहीं निर्जीवताका चिह्न है। फिर कर्म-संन्यास सम्भव भी तो नहीं है। कर्म-संन्यासके विचारोंकी बहुत आलोचना की गई है। गीतामें योगिराज कृष्णने अनेक स्थलोंपर उसकी कमजोरियाँ दिखाकर उसको हेय प्रतिपादित किया है।

जीवात्माकी जिस कर्तृत्व-शक्तिका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, उसका सूक्ष्मतर विश्लेषण यदि करें, तो परिणाम रूपमें तीन प्रकार क्रियाशक्तिकी उपलब्धि होगी, चिन्तन Thinking, इच्छा Willing और चेष्टा Doing। इसीको सूत्रकारके शब्दोंमें ज्ञानशक्ति, इच्छा-शक्ति और प्रयत्नशक्तिके नामसे कह सकते हैं। मनुष्यके भीतर इन तीनोंमेंसे कोई न कोई क्रिया प्रतिक्षण व्यक्त रूपमें होती रहती है। इन तीनों क्रियाओंकी अभिव्यक्तिके क्षेत्र भिन्न हैं। हमारी स्थूल चेष्टाओंकी अभिव्यक्ति इस अन्नमय कोष या स्थूल देह Physical body में होती है। ज्ञानशक्तिके प्रकाशका क्षेत्र मनोमय कोष Mental body है और इच्छाशक्तिकी अभिव्यक्ति प्राणमय कोष Astral body में होती है। साधारण तौरसे जिस समय हमारा स्थूल शरीर निश्चेष्ट होता है, उस समय भी मनोमय और प्राणमय कोषोंमें स्पन्दन जारी रहता है। अर्थात् मानव-जीवनका कोई भी क्षण ऐसा नहीं जिसमें उसे सर्वथा निष्क्रिय समझा जा सके। इसी लिए भगवान्ने गीतामें कहा है—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ —३।५

अर्थात् संसारमें कोई व्यक्ति क्षण भरके लिए भी निष्क्रिय नहीं हो सकता। प्राकृतिक गुण हठात् उसे किसी न किसी कार्यमें व्यस्त रखते हैं। आगे अठारहवें अध्यायमें चल कर फिर इसी बातको दोहराया है—

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

क्योंकि—

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येत् ह्यकर्मणः।

यदि मनुष्य सर्वथा निष्क्रिय हो जाय, तो उसकी शरीरयात्राका निर्वाह भी असम्भव है। इस लिए दृढ़ताके साथ यह कहा जा

सकता है कि कर्म-संन्यास दुष्कर ही नहीं सर्वथा असम्भव है। जीवनमें नहीं बल्कि मृत्युके बाद ही उसकी सिद्धि हो सकती है। जो लोग बाह्य चेष्टाओंका विरोध दिखाकर विषयोंका मानसिक चिन्तन करते हैं वे ढोंगी होते हैं। गीताने ऐसे लोगोंके लिए ही तो लिखा है कि—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
—गीता ३।६

हाँ, कर्म-संन्यास या कर्म-निवृत्तिका एक मार्ग भारतीय विचारकोंने बताया है और वह कर्म-परित्याग नहीं बल्कि फल-परित्याग है। यदि कर्त्ता अपने हृदयसे कर्मफलकी वासनाको निकाल, नितान्त निष्काम भावसे कर्म करे, तो वह सक्रिय पुरुष भी वस्तुतः निष्क्रिय कहा जायगा। उसके इस प्रकारके कर्मका चाहे कुछ भी परिणाम हो, उससे कर्त्ताको सुख या दुःख न होगा। सुख और दुःख कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, वह हमारी मानसिक कल्पनाका परिणाम है। एक गरीब आदमी जिस परिस्थितिको सुखमय पाता है, वही परिस्थिति दूसरे सम्पन्न पुरुषको नरकतुल्य प्रतीत होती है। परिस्थिति-साम्यमें भी यह अनुभूति-वैषम्य मनोवृत्तिकी भिन्नतासे उत्पन्न हुआ है। साधारणतः इच्छाके विघातका नाम दुःख और इच्छाकी पूर्तिका नाम सुख कहा जा सकता है। परन्तु जिसके हृदयमें फलके प्रति किसी प्रकारकी कामना ही नहीं है, उसके लिए सुख या दुःखकी सत्ता भी कहाँसे होगी! इसी लिए सांसारिक पुरुषोंके सामने कर्तव्यका आदर्श प्रस्तुत करनेके निमित्त सारे श्रेष्ठ और उपयुक्त कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए भी अपने हृदयमें निष्काम भावना बनाये रखना, यही सच्ची कर्मनिवृत्ति है, इसीमें

व्यक्ति और समष्टिका कल्याण है। गीतामें कर्म-संन्यासका यही स्वरूप प्रतिपादित किया है—

> यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
> ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥
> त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
> कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥
>
> गीता ४।१९–२०

जिसके सारे कार्य फल-कामनासे विहीन होते हैं, वह अपनी ज्ञानाग्निके द्वारा कर्मोंके प्रभावको भस्म कर डालता है। उसीको विद्वान् लोग 'पण्डित' कहते हैं।

सदा सन्तुष्ट और निष्काम पुरुष फल-वासनाको परित्याग कर कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता।

परन्तु कोरा कर्म-परित्याग उस साधकके लिए तो हानिकर होता ही है; परन्तु उससे भी बढ़कर देश और जातिके लिए घातक सिद्ध होता है। संसारके साधारण पुरुष, महात्माओंके चरित्रको आदर्श मानते हैं और उसका अनुकरण करनेका यत्न करते हैं। यदि वह महापुरुष इस घातक मार्गका अवलम्बन करते हैं, तो उनके भक्त तो न जाने कहाँ जा पहुँचेंगे। भारतके पिछले इतिहासमें हम इसके घातक परिणामका अनुभव भली भाँति कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त कृष्णने गीतामें लिखा है—

> न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
> यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

—गीता ३।२२, २३, २४

हे पार्थ (देखो कि) त्रिभुवनमें न तो मेरा कुछ भी कर्तव्य (शेष) रहा है और न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनेकी रह गई है, फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ । क्योंकि यदि मैं आलस्य त्यागकर कर्मोंमें न वर्तूंगा, तो हे पार्थ, सांसारिक मनुष्य सब प्रकार मेरा ही अनुकरण करेंगे । जो मैं कर्म-मार्गसे विरत हो जाऊँ, तो मेरा अनुकरण करनेवाले सब लोग नष्ट हो जायँ ।

एक बात और है । आध्यात्मिक युगमें लोगोंका विचार था कि ज्ञान और कर्म दो ऐसी विरुद्ध वस्तुएँ हैं, जिनका सहचार सम्भव ही नहीं । इसी भ्रान्त धारणाके कारण ज्ञान-काण्डियोंने कर्मकी और कर्म-काण्डियोंने ज्ञानकी अत्यन्त उपेक्षा की । परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है । ज्ञान और कर्म दोनों साथ रह सकते हैं और उनके साथ रहनेमें ही संसारका कल्याण है । भगवान् वेदने कहा है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।

—यजु०, अ० ४०

जो लोग केवल अविद्या—केवल कर्मकाण्ड—में रत हैं, वह अज्ञानी हैं; परन्तु जो लोग कर्म-काण्डकी उपेक्षा कर केवल ज्ञान-काण्डमें संलग्न हैं और अपनेको विद्वान् समझते हैं वह उनसे भी अधिक अज्ञानी हैं । ज्ञान और कर्मका पूर्ण सामंजस्य ही मानव-समाजकी उन्नतिका मूल है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

बारहवाँ परिच्छेद

पुनर्जन्म

पुनर्जन्मकी दार्शनिक युक्ति

गत परिच्छेदमें हम देख चुके हैं कि विश्व-वैषम्यके उपपादनके लिए कर्मवाद, भोगवाद और उनके साथ ही पुनर्जन्म सिद्धान्तकी आवश्यकता है। बाइबिल और कुरानने कर्मवादको स्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म सिद्धान्तकी सर्वथा अवहेलना की, इसीलिए उनका विश्व-वैषम्यका उपपादन भी उपहासयोग्य हुआ है। कर्मवाद, नित्यात्म-वाद और पुनर्जन्मके सिद्धान्त परस्पर सापेक्ष हैं। उनमेंसे किसीकी भी स्थिति अपने सहयोगियोंसे पृथक् होकर उतने सुन्दर और आकर्षक रूपमें नहीं रह सकती। इसी लिए हम देखते हैं कि भारतीय सिद्धान्तमें अत्यन्त अधिक बहुमतसे इन तीनों सिद्धान्तोंका समर्थन किया गया है। भारतके बाहर भी अनेक धर्मोंमें इस प्रकारके विचारोंको स्थान मिला है। जिन भारतीय दार्शनिकोंने नित्य आत्माकी सत्ता स्वीकार की है, उन्होंने पुनर्जन्मके विषयमें विशेष आलोचना करनेकी भी आवश्यकता नहीं समझी। क्योंकि पुनर्जन्म नित्यात्मवादका स्वतःसिद्ध परिणाम है। मृत्युके बाद जीवात्माको सदाके लिए स्वर्ग या नरकमें डाल देना उस आत्माके साथ और अपनी बुद्धिके साथ भी अन्याय करना है। उससे न नित्य आत्मा माननेका प्रयोजन सिद्ध होता है, न कर्मवादका और न विश्व-वैषम्यका उपपादन ही होता है।

न्याय-दर्शनने प्रेत्यभाव या पुनर्जन्मकी सिद्धिमें केवल एक सूत्र लिखा है—

आत्मा नित्यत्वे प्रेत्यभावासिद्धिः।

—४-१-१०

सूत्रका आशय यह है कि नित्य आत्माको मान लेनेके बाद प्रेत्य-भाव या पुनर्जन्म तो एक स्वतःसिद्ध बात है, उसके सिद्ध करनेके लिए विशेष युक्ति-प्रयुक्तियोंकी आवश्यकता नहीं। हाँ, आत्म-नित्यत्वके साधनमें कई सूत्र इस प्रकारके पाये जाते हैं, जिनसे पुनर्जन्मके विषय-पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उनमेंसे तीन सूत्र मुख्य कहे जा सकते हैं—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः।

प्रेत्याभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्।

वीतरागजन्मादर्शनात्।

—सू० १९, २१, २५।

सूत्र अलग अलग है, उनके भीतरकी युक्तियाँ भी भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं; परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो वह सब युक्तियाँ एक ही श्रेणीकी हैं। नवजात शिशुकी अनेक चेष्टाएँ ऐसी होती हैं, जिनको सुसंगत बतानेके लिए पूर्व संस्कारोंका प्रयोजन है। उदाहरणके लिए, बालक किसी वस्तुको देखकर प्रसन्न होता है, किसीको देखकर उसे दुःख होता है और किन्हीं वस्तुओंसे उसके हृदयमें भयका संचार होता है। हर्ष, शोक और भयका सम्बन्ध किसी पूर्वानुभूतिके साथ विशेष रूपसे रहता है। अर्थात् जिस वस्तुके सम्पर्कसे तुम कभी सुखका अनुभव कर चुके

हो, उसको देखकर हर्ष होता है। जिसके कारण कभी कभी दुःख उठाना पड़ा है, उसे देखकर भय उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शोककी उत्पत्ति भी पूर्वानुभवकी अपेक्षा रखती है। नवजात बालककी हर्ष, शोक और भयप्रदर्शक चेष्टाओंमें भी इसी प्रकारकी पूर्वानुभूतिकी आवश्यकता है। नवजात शिशुकी यह पूर्वानुभूति उसके पूर्वजन्मके संस्कारोंके अतिरिक्त और क्या हो सकती है? फलतः विवश होकर उसके पूर्व जन्मकी कल्पनापर विश्वास करना पड़ता है। यही पहले सूत्रका आशय है। (जातस्य) नवजात शिशुको (पूर्वाभ्यस्त-स्मृत्यनुबन्धात्) पूर्वजन्मकी अनुभूतियोंकी स्मृतिसे (हर्षशोकभय-सम्प्रतिपत्तेः) हर्ष शोक और भयकी प्रतीति होनेसे जन्मान्तरकी कल्पना करना आवश्यक होता है।

ऊपरके सूत्रमें हर्ष, शोक और भयके जिन पूर्व-संस्कारोंकी चर्चा की गई है, उनको यदि और मोटे एवं स्पष्ट रूपमें समझना है तो नवजात शिशुकी स्तन-पानकी चेष्टाको उदाहरणके लिए लिया जा सकता है। यह चेष्टा भी पूर्व जन्मके अभ्यासके ऊपर ही निर्भर है। (प्रेत्य) मृत्युके बाद पुनर्जन्म होनेपर नवजात शिशुमें (अभ्यास-कृतात्) पूर्वजन्ममें किये हुए अभ्यासके कारण (स्तन्याभिलाषात्) मातृ-स्तनोंसे दुग्ध-पानकी इच्छा होती है। यह भी जन्मान्तरका समर्पक एक प्रबल प्रमाण है। दूसरे सूत्रका यही आशय है।

तीसरे सूत्रकी युक्ति भी उसी श्रेणीकी है जिसका कि उल्लेख पिछले दो सूत्रोंमें किया जा चुका है। फिर भी उसे अधिक स्पष्ट रूपमें समझनेके लिए उसके वात्स्यायन-भाष्यका उद्धृत करना उपयुक्त होगा। भाष्यकारने लिखा है—

सरागो जायत इत्यर्थादापद्यते । अयं जायमानो रागानुबद्धो जायते । रागस्य पूर्णानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः । पूर्वानुभवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते । सोऽयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयाननुस्मरन् तेषु तेषु रज्यते ।

वीतरागका जन्म नहीं होता, यह सूत्रका शब्दार्थ है । इससे यह भाव निकलता है कि सराग पुरुषका जन्म होता है । इस रागका कारण पूर्वानुभूत विषयकी स्मृति ही है । यह पूर्वानुभव जन्मान्तरमें शरीरकी कल्पनाके बिना बन ही नहीं सकता । इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा पूर्व शरीरद्वारा जिन विषयोंका अनुभव कर चुका है, जन्मान्तरमें उन्हींके स्मरणसे उनमें अनुरक्त होता है ।

यह और इसी प्रकारकी कुछ अन्य दार्शनिक युक्तियाँ पुनर्जन्मके पोषणमें दी जा सकती हैं । यह एक श्रेणी है । इसी सम्बन्धमें दूसरी श्रेणीकी युक्तियाँ वह हैं जिनका आधार विश्व-वैषम्य है । हम उनके आशयको पहले ही लिख चुके हैं । कर्मवाद और पुनर्जन्मके माने बिना विश्व-वैषम्यका उपपादन हो ही नहीं सकता । वेदान्त सूत्रोंके शाङ्कर-भाष्यमें—

वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ।

—वे० अ० २, सू० ३४

सूत्रपर इस सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा गया है; परन्तु हम उस सबको यहाँ उद्धृत कर विषयको जटिल बनानेका यत्न न करेंगे । फिर भी इतना अवश्य है कि पुनर्जन्मके पोषणमें जो युक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, वह मान्य हैं और भारतके बडे बडे दार्शनिक मस्तिष्कोंने उनके आगे सिर झुकाया है ।

जन्मान्तर-स्मृति

पुनर्जन्म सिद्धान्तके विरोधियोंकी ओरसे इस सम्बन्धमें सबसे बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि यदि वस्तुतः जीवात्मा या पुनर्जन्म होता है, तो हमें अपने पूर्व जन्मका स्मरण क्यों नहीं होता ? जैसे रातको सोने बाद प्रातः उठनेपर कलका सारा वृत्तान्त याद आ जाता है, उसी प्रकार मृत्युरूप रात होनेके बाद हमें पूर्व जन्मकी बातें क्यों याद नहीं रहतीं ? यह प्रश्न ऐसा है, जो कभी कभी पुनर्जन्मपर विश्वास रखनेवाले लोगोंके चित्तको भी अस्थिर कर देता है। परन्तु वस्तुतः यह प्रश्न हमारे धोखा देनेके लिए एक कल्पना मात्र है। इसमें सारांश कुछ विशेष नहीं है। इसे समझनेके लिए हमें स्मरण-प्रक्रियाका थोड़ा मनन करना होगा। साधारणतः सभी दर्शनकारोंने सूक्ष्म संस्कारोंको स्मृतिका जनक माना है। यह संस्कार हमारी अनुभूतियोंके सूक्ष्म रूप हैं, जो अनुभूतिके नाश हो जानेके बाद बने रहते हैं। इनमें अनुभूतिकी सी व्यक्तता न रहनेपर भी उसकी अव्यक्त स्थिति बनी रहती है। अवसर पड़ने और उद्बोधक सामग्रीके उपस्थित होनेपर इन्हीं संस्कारोंसे स्मृतिकी उत्पत्ति हो जाती है। स्मृतिका वैशद्य और अस्फुटता बहुधा संस्कारोंकी प्रबलता और क्षीणतापर निर्भर रहती है। संस्कार जितने ही प्रबल होते हैं स्मृति उतनी ही अधिक विशद होती है। इसके विपरीत जहाँ संस्कार जितने ही अधिक दुर्बल होते हैं, वहाँ स्मृति भी उतनी अधिक क्षीण होती है। जिस अनुभूतिके समय हृदयपर विशेष प्रभाव पड़ता है, उसके संस्कार भी प्रबल बनते हैं और उनकी स्मृति भी बहुत दिन तक बनी रहती है। परन्तु नैत्यिक साधारण अनुभूतियाँ ऐसी होती हैं जिनका

हमारे हृदयपर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनके संस्कार बनते तो अवश्य हैं; परन्तु वह इतने क्षीण होते हैं कि दो चार दिनके भीतर ही उनमें स्मृति-जननके सामर्थ्यका अभाव सा हो जाता है। प्रबल संस्कारोंमें भी स्मृति-जननका सामर्थ्य सदा बना रहता है, यह कह सकना कठिन है। जीवनके अन्त तक आते आते बाल्यावस्था, किशोरावस्था या प्रौढावस्थाके कितने संस्कार ऐसे रह जाते हैं जिनसे स्मृति पैदा होती है?—थोड़े—बहुत थोड़े। वृद्धावस्थामें मनुष्यको अपने प्रारम्भिक जीवनकी दो चार घटनाएँ ही याद रह जाती हैं। अपने जीवनके उन्हीं प्रारम्भिक दिनोंमें हमने स्कूल-कालेजों और पाठशालाओंमें जिन विषयोंको घोटा है—प्रबल प्रयत्न कर जिनके संस्कारोंको स्थायी रूप देनेका यत्न किया है, उनमेंसे दो एकको छोड़ कर जिनका परवर्ती जीवनमें काम पड़ता रहा है और सब तो प्रायः ऐसे भूल जाते हैं कि प्रयत्न करने पर भी उनकी स्मृति नहीं होती। फलतः इस जीवनमें ही हमें ताज़ी घटनाओंको छोड़ कर बहुत कमकी स्मृति रह जाती है, तब जन्मान्तरमें उनकी स्मृति हो सकेगी, यह आशा दुराशामात्र है। फिर मृत्युके बादसे दूसरा जन्म होने पर्यन्त कितने दिन तक किस परिस्थितिमें जीवात्मा रहता है, यह कह सकना भी कठिन है। गर्भमें आनेके पहले और पीछे भी जिन परिस्थितियोंमें वह रहता है, वे विगत संस्कारोंको क्षीणतर ही बनाती होंगी। इस लिए जन्मान्तरमें उनसे स्मृतिकी उत्पत्ति न होना ही स्वाभाविक है। हाँ, जीवनरक्षाविषयक उसके संस्कार स्वतः भी प्रबल होते हैं और गर्भावस्था एवं उससे पहले भी सम्भवतः उन्हें उत्तेजन मिलता रहता है, इसी लिए नवजात शिशु सात-

धान होनेके साथ ही माताके स्तन-पानमें प्रवृत्त हो जाता है। यह उसके पूर्वजन्मके प्रबलतम संस्कारोंका प्रभाव है। कभी कभी अपवाद रूपमें किसी बालककी अन्य प्रकारकी पूर्वजन्मकी स्मृतियोंके समाचार भी पढ़नेमें आये हैं। उन्हें हम असम्भव तो नहीं समझते, फिर भी उन्हें साधारण नियम न कह कर अपवाद कहना ही ठीक होगा। परन्तु यह भी संस्कारोंकी प्रबलतासे ही पैदा होते हैं।

एक और बात है। हम पहले कह चुके हैं कि संस्कार अनुभूतियोंके सूक्ष्म रूप हैं। उनमें अनुभूतियोंकी सी स्थूलता नहीं होती; फिर भी उनकी अव्यक्त स्थिति अवश्य रहती है। एक मोटे उदाहरणसे इसकी स्थिति कुछ साफ हो सकेगी। एक मनुष्यके पास ६४ पैसे हैं। इन पैसोंकी बजाय वह एक रुपया रख लेता है। इस रुपयेमें ६४ पैसोंकी स्थूलता नहीं हैं; परन्तु फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह ६४ पैसे नहीं है। आवश्यकता होनेपर यही रुपया ६४ पैसोंका काम दे सकेगा। इसी प्रकारके १० रुपयोंका सूक्ष्म रूप १०) का एक नोट और इसी प्रकारके १० नोटोंका सूक्ष्म रूप १००) का एक नोट है। इस १००) के नोटमें भी वह ६४ पैसे उपस्थित हैं; परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें। इस स्थितिमें ६४ पैसे इतने सूक्ष्म रूपमें पहुँच गये हैं कि साधारण स्थितिमें उनका कोई उपयोग ही नहीं हो सकता। उदाहरणके लिए १००) का नोट लेकर हम एक कुँजड़ेके यहाँसे एक पैसेका कद्दू मोल लेना चाहें, तो यह नोट हमें काम नहीं देगा। यद्यपि यह ठीक है कि उसमें इस प्रकारके ६४×१०० पैसे मौजूद हैं; परन्तु हमारे लिए तो वह सब निरर्थक हैं। यह सब इतने सूक्ष्म रूपमें हैं कि कुँजड़े जैसी उद्यो-

धक सामग्री पाकर उनपर कोई प्रभाव नहीं होता। हाँ, यदि थोड़ासा प्रयत्नकर किसी सर्राफके यहाँ उस नोटको भुनाकर रुपयों और पैसोंके रूपमें कुछ स्थूल बना लें, तो कुँजड़ेके यहाँ भी उनका उपयोग हो सकता है। ठीक यही स्थिति संस्कारोंकी है। हम कह चुके हैं कि जीवनके अन्त तक पहुँचते पहुँचते बाल्यावस्था और किशोरावस्थाके संस्कार अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं, यत्न करनेपर भी उनसे स्मृतिरूप फलकी उत्पत्ति नहीं होती। यह वही स्थिति है जो कि १००) के नोटके रुपमें पैसेकी। परन्तु जिस प्रकार थोड़ासा यत्नकर उस नोटको रूपयों पैसोंका रूप दिया जा सकता है, उसी प्रकार उन सूक्ष्म संस्कारोंको भी उद्बुद्ध किया जा सकता है; परन्तु उसके लिए थोड़ेसे प्रयत्नकी आवश्यकता है। योगमार्गका अवलम्बन करनेवाले योगी इस बातमें सिद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार १००) के नोटको स्थूल रूप देकर साधारण स्थितिमें उसके एक एक पैसेका उपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार योगसाधनद्वारा संस्कारोंको उद्बुद्ध करके इस जन्म और पूर्व जन्मकी साधारणतम घटनाओंका पुनः प्रत्यक्ष या स्मरण किया जा सकता है। परन्तु यह स्थिति—यह शक्ति—सर्व साधारणको नहीं, योगियोंको ही प्राप्त होती है। इसीलिए योगिराज कृष्णने अर्जुनसे कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

—गीता अ० ४, श्लो० ५

हे अर्जुन, हमारे और तुम्हारे और अनेक जन्म हो चुके हैं। (यह भेद है कि) मैं उन सबको जानता हूँ, परन्तु तुम उन्हें नहीं जानते।

ऊपरकी पंक्तियोंसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि साधारणतः जब हमें इस जीवनकी बहुतसी घटनाओंका स्मरण इस जन्ममें ही नहीं होता, तो जन्मान्तरमें उनका स्मरण न होना ही सर्वथा स्वाभाविक है। इस स्मृतिके न होनेका कारण संस्कारोंकी क्षीणता या अत्यन्त सूक्ष्मता होती है। जीवन जैसे संस्कारोंके समान जो संस्कार अत्यन्त प्रवल होते हैं, वह जन्मान्तरमें भी अपना प्रभाव दिखाते हैं और उन्हींके कारण पूर्वाभ्यस्त स्तन-पानकी ओर नवजात शिशुकी प्रवृत्ति होती है। योगी लोग सूक्ष्म संस्कारोंको अभ्यासद्वारा उद्बुद्ध कर सकते हैं और उसके द्वारा जन्मान्तरकी घटनाओंका अनुभव कर सकते हैं। फलतः पुनर्जन्म-सिद्धान्तके विरोधियोंकी ओरसे उठाये हुए जन्मान्तरकी स्मृति न होनेवाले आक्षेपमें कुछ सार नहीं है, उससे पुनर्जन्मके सिद्धान्तको किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँचती। पुनर्जन्म-सिद्धान्त एक यौक्तिक सिद्धान्त है और दार्शनिक तथ्य है।

एक पाश्चात्य कल्पना

पाश्चात्य विद्वानोंकी अन्वेषणशैली वैसे ही कुछ विचित्र सी होती है और भारतवर्षके सम्बन्धमें उस विचित्रतामें बहुत कुछ विशेषता आ जाती है। न जाने कहाँ कहाँकी और किस किस प्रकारकी सारहीन असंगत कल्पनाएँ वह नवीन परिशोधके रूपमें गौरवके साथ प्रकाशित करते हैं। भारतीय साहित्यके सम्बन्धकी उनकी इस प्रकारकी परिशोधोंमेंसे अधिकांश उनके मस्तिष्ककी उपज और कोरी कल्पना मात्र होती हैं। पुनर्जन्मके प्रकृत सिद्धान्तके सम्बन्धमें भी किसी समय एक फ्रांसीसी विद्वान्ने इसी प्रकारकी एक नवीन परिशोध की थी। परिशोधक महोदयका नाम शायद वाल्टेयर (Voltaire)

था। उनका कहना था कि जलवायुकी दृष्टिसे भारतवर्ष उष्ण देश है। ऐसे देशमें मांस-भक्षण स्वास्थ्यके लिए हानिकर होता है। इस लिए भारतवर्षमें मांस-निषेधका सिद्धान्त प्रारम्भिक रूपमें वैद्यक शास्त्रका सिद्धान्त था। पीछे वह एक धार्मिक सिद्धान्त समझा जाने लगा। धर्मशास्त्रमें इस सिद्धान्तके प्रवेशका परिणाम यह निकला कि मांस-भक्षणके साथ ही उसकी प्राप्तिका साधन—पशुवध—भी अधर्म और निषिद्ध समझा जाने लगा। मनुष्य और पशु दोनों ही अवध्य ठहराये गये। इस प्रकार उनके बीच एक प्रकारकी समानता उत्पन्न हुई जिसने इस धारणाको जन्म दिया कि मनुष्यका आत्मा पशुमें और पशुओंका आत्मा मनुष्योंमें आ जा सकता है। इसी धारणाके आधारपर भारतवर्षमें पुनर्जन्म सिद्धान्तकी स्थापना हुई।

वाल्टेयरकी यह 'परिशोध' जिस समय उसके मस्तिष्कसे निकली होगी, उस समय उसका स्वागत भी 'नवीन परिशोध' के रूपमें ही हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु आज पश्चिममें भी उसका आदर नहीं है और हम तो उसे किसी भी अवस्थामें नवीन परिशोध कहनेको तैयार न होते। हमारी दृष्टिमें तो वह एक सर्वथा निराधार, सारहीन कल्पना है। पुनर्जन्मका सिद्धान्त तो एक दार्शनिक सिद्धान्त है। विश्व-वैषम्यके उपपादनके लिए उसकी आवश्यकता है। नित्यात्मवाद, कर्मवाद और पुनर्जन्म परस्पर सापेक्ष सिद्धान्त हैं। एकके विना दूसरेका सौन्दर्य क्षीण हो जाता है। वह तीनों ही सुदूर अतीतसे इसी प्रकार चले जा रहे हैं। पुनर्जन्मका सम्बन्ध मांस-भक्षणसे नहीं है, वह तो नित्यात्मवाद और कर्मवादका अनिवार्य परिणाम है।

पुनर्जन्मकी उपयोगिता

पुनर्जन्म-सिद्धान्त भी अपने सहयोगी नित्यात्मवाद और कर्म-वादकी भाँति केवल दार्शनिक क्षेत्रमें ही सीमित नहीं रहा है; बल्कि समाजकी रचना और व्यक्तियोंके चरित्रपर उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। उसने सामाजिक मनोवृत्तिको आशावादी बनाया है और वैयक्तिक चरित्रको ऊँचा—बहुत ऊँचा—उठाया है। भारतीयोंकी धर्मभीरुता उनके पुनर्जन्म-सिद्धान्तका परिणाम है, उनकी वीरतापर इसीकी छाप है। इस सिद्धान्तने उनके हृदयसे प्राणोंका मोह, बन्धुजनोंकी ममता और सांसारिक वैभवकी आस्थाको मिटा डाला है। आवश्यकता पड़नेपर वह सांसारिक वैभवको लात मार सकते हैं। प्रियसे प्रिय बन्धुजनोंको अपरिकम्पित भावसे त्याग सकते हैं और उस सबसे बढ़कर अपने प्राणोंको अत्यन्त निर्भय भावसे अत्यन्त तुच्छ वस्तुकी भाँति त्याग सकते हैं। मृत्यु उनकी दृष्टिमें ऐसे ही है जैसे हम अपने किसी फटे कपड़ेको उतारकर फेंक देते हैं। इसी लिए उनका आत्मा किसी भी समय काममें आये हुए इस पुराने कपड़े—शरीर—को उतारकर फेंक देनेमें संकोच नहीं करता। भगवान् कृष्णने गीतामें कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर-को त्यागकर दूसरे नये शरीरको धारण करता है।

इस भावनाका मनुष्यके चरित्र-निर्माणपर बहुत ऊँचा प्रभाव पड़ता है। भारतवर्षका अध्यात्मवाद, भारतवर्षका कर्मवाद और भारतवर्षका पुनर्जन्म उसके गौरवकी वस्तुएँ हैं। जो देश और जाति इन सिद्धान्तोंके रहस्यको भली भाँति समझती है, वह चिरकालतक पतित होकर नहीं रह सकती। भारतवर्षके क्रान्तिमय दिनोंमें पुनर्जन्मका सिद्धान्त अपना प्रभाव दिखायेगा। इसी सिद्धान्तके नामपर—पुनर्जन्मके इसी आशावादपर—भारतीय वीर एक वार फिर फटे पुराने कपड़ेकी भाँति निर्मम भावसे जीवनका मोह छोड़ देशकी धाराको बदलनेमें सफल होंगे।

तृतीय खण्ड

वह ?

पिछले खण्डोंमें यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस विश्वके विकास और नियंत्रणके लिए एक चेतन सत्ताकी आवश्यकता है। धर्मशास्त्रने उस सत्ताका नाम 'ईश्वर रखा है। 'प्रपंच' का 'परिचय' करानेके इस प्रयासमें 'वह' शक्ति अपना विशेष स्थान रखती है। इस खण्डमें उसीका विचार किया गया है। दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक तीनों पहलुओंपर प्रकाश डालनेका यत्न हुआ है। इसी प्रकरणमें सांख्याचार्य कपिल और महात्मा बुद्धके विचारोंकी विवेचना भी हुई है।

अन्तमें कुछ शब्द अद्वैतवादके सम्बधमें लिखे गये हैं।

तेरहवाँ परिच्छेद

दार्शनिक युक्ति

ईश्वर-विश्वासका जन्म मानव-सभ्यताके किस युगमें, किस मस्तिष्कसे और किस आधारपर हुआ, यह कह सकना कठिन है। हमारी समझमें तो वस्तुतः वह ऐतिहासिक सीमाके बाहरकी चीज़ है, उसके ऊपर किसी देश या जातिकी निजी मुहर भी नहीं है। संसारके हर-एक देश और जातिमें सुदूर, हाँ अनादि अतीतसे किसी न किसी रूपमें उसकी सत्ता निरन्तर चली आ रही है। हाँ, उसकी उत्पत्तिके मूल आधार प्रायः हर जगह एक या समान श्रेणीके ही हैं। इस अनन्त संसारमें मानव-बुद्धि और मानव-शक्तिका क्षेत्र बहुत सीमित है। दूसरे शब्दोंमें मनुष्य अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान् है। उसकी शक्ति और बुद्धिकी पहुँच जहाँ नहीं है, वहींसे ईश्वर-विश्वासका प्रारम्भ होता है। फ़ारसीके किसी कविने लिखा है कि ईश्वर विवशता है। अर्थात् जहाँ पहुँचकर मानव-शक्ति कुण्ठित और मानव-बुद्धि किं-कर्तव्यविमूढ़ हो जाती है, वहींपर ईश्वरकी आवश्यकता अनुभव होती है। संसारके अधिकांश देशों, अधिकांश धर्मों और अधिकांश जातियोंमें ईश्वर-विश्वासको जन्म देनेका मूल आधार यही विवशता रही है। भारतीय दार्शनिकोंने ईश्वरके साधनके लिए जो युक्तियाँ उपस्थित की हैं, वह सब इसी विवशता, इसी असामर्थ्य और मनुष्यकी

अल्पज्ञताका शाब्दिक रूपान्तर मात्र हैं। उनमें कुछ ज्याद: परिवर्तन और इससे बहुत अधिक भाव-गाम्भीर्य नहीं है।

मनुष्यकी अल्पज्ञता और अल्पशक्तिमत्ता इतनी अधिक स्पष्ट है कि उनके सम्बन्धमें कुछ लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हरएक व्यक्ति अपनी और दूसरोंकी कमज़ोरियोंको भी बहुत अंश तक अनुभव कर सकता है। फिर भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि आज कलके वैज्ञानिक अपनी सर्वज्ञताका दम भरते और ईश्वर-विश्वासियोंका उपहास करते हैं। हम तो इन्हें दम्भी और आत्मप्रतारकके रूपमें ही देखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञानने पिछले दिनोंमें अनेक क्रान्तिकारी और महत्त्वपूर्ण आविष्कार किये हैं, अल्पज्ञ मनुष्यके लिए यह आविष्कार अभिमानकी वस्तु हैं; परन्तु उनके ऊपर प्रभुकी अनन्त शक्तिका उपहास, अपनी सर्वज्ञताका दम भरना और उस अभिमानके आवेशमें आत्म-विस्मृति, यह सब असह्य है, अक्षम्य है। उनमें मनुष्यका आत्माभिमान मर्यादाका उल्लंघन कर गया है। भला देखो तो, उसके आविष्कार हैं क्या, प्रभुकी अनन्त रचनामेंसे किसी एक साधारण वस्तुके एकांगी अनुकरणका आंशिक सफल प्रयत्न। उसीके ऊपर इतना अभिमान! इतना नाज़!! इतनी ऐंठन!!! तब तो अवश्य ही—

घटानां निर्मातुः त्रिभुवनविधातुश्च कलहः

घड़े बनानेवाला साधारण कुम्हार, ब्रह्माण्ड-भाण्डके रचयिताके सामने प्रतिद्वान्द्विताके लिए खम ठोंककर खड़ा हो जायगा और हम उस प्रतिद्वन्द्विताकी दाद देंगे। मनुष्यका ज्ञान कितना अल्प है, उसका सामर्थ्य कितना परिमित है और उसके आविष्कार कितने अपूर्ण हैं,

इसे वैज्ञानिक संसारके शिरोमणि लोग—जो अपरिपक्व विज्ञानकी सीमासे ऊपर उठ चुके हैं—स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। हमने ऊपर इस प्रकारके अनेक उदाहरण दिये हैं जिनसे यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि इस प्रकारका मिथ्याभिमान उन लोगोंमें उतना ही अधिक पाया जाता है जिनका ज्ञान जितना ही अधिक अपरिपक्व होता है—

'अर्धो घटो घोषमुपैति नूनं'

'अधभर गगरी छलकत जाय'

ज्यों ज्यों मनुष्य अधिक परिपक्व और विशेषज्ञ होता जाता है, त्यों त्यों उसे अपनी कमज़ोरियोंका अनुभव होने लगता है और वह समझ जाता है कि मेरा ज्ञान कितना अपूर्ण और मेरी शक्ति कितनी सीमित है। आजके वैज्ञानिक विभागोंमेंसे मनोविज्ञान, शरीर-विद्या, वनस्पति-विज्ञान या अन्य किसी भी विभागके विशेषज्ञ विद्वानसे पूछो, तो वह यही कहेगा कि हम और हमारे पूर्वकालिक अन्वेषणकर्त्ताओंने वर्षों लगाकर आजतक जो कुछ आविष्कार इस विभागमें किये, वह सराहनीय हैं इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अभी तक केवल इसी विद्याके सम्बन्धमें न जाने कितने रहस्य ऐसे पड़े हैं जिनका ज़रासा आभास हमें नहीं मिल सका है। इस प्रकार वैज्ञानिक क्षेत्रमें प्रत्येक विभागके नूतनतम अन्वेषणोंके वाद भी हम उन्हें पूर्ण नहीं कह सकते। वस्तुतः कोई विशेषज्ञ वैज्ञानिक अपने प्रभाव विषयमें भी जिसके अध्ययन और मननमें उसने अपने जीवनका सर्वोत्तम भाग व्यतीत किया है अपनेको परिपूर्ण और सर्वज्ञ नहीं कह सकता। फिर उसके अतिरिक्त और भी सैकड़ों हजारों विषय ऐसे पड़े हैं, जिनकी वर्णमाला भी उसने प्रारम्भ नहीं की

है। एक मनोवैज्ञानिक, अपने शरीरके ज़रासे रोग, निदान और उपचार नहीं समझ सकता, उसको डाक्टरकी शरण लेनी ही पड़ती है। इसी प्रकार एक बड़ा विद्वान् चिकित्सक अपने शास्त्रका विशेषज्ञ होते हुए भी वनस्पति-विज्ञान, खनिज-विद्या या इसी प्रकारकी विज्ञानकी किसी अन्य शाखाके विषयमें एक नादान बालककी भाँति ही नितान्त अज्ञानमें रहता है। फलतः मनुष्यकी बुद्धि इतनी अधिक परिमित है कि अनादि कालसे सर-तोड़ परिश्रम करके आजतक वह विश्व-पहेलीको समझ भी नहीं सकता है और अनन्त भविष्यमें उसके ऊपर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त कर सकेगा, ऐसी आशा नहीं। ऐसी अवस्थामें अनादि अनन्त प्रकृतिके ऊपर उस परिमित शक्ति और परिमित बुद्धिवाले जीवात्माका नियंत्रण तो कल्पनाके भी बाहरकी बात है। फिर यदि कोई दार्शनिक मस्तिष्क जीवात्माकी आड़ लेकर परमात्माका बहिष्कार करनेका असफल प्रयत्न करे, तो वह कैसा उपहासास्पद होगा! उसकी अवस्था कितनी दयनीय होगी!

प्रकृति स्वयं जड़ है, उसकी अन्ध-गतिमें यह शक्ति नहीं कि इस व्यवस्थित विश्वकी सृष्टि कर सके, उसके संचालनके लिए किसी विचारशील मस्तिष्ककी अपेक्षा है, यह हम प्रथम खण्डमें भली भाँति देख चुके हैं। उस सबकी पुनरावृत्तिका प्रयोजन यहाँ नहीं है। यहाँ हमने यह भी देख लिया कि परिमित शक्ति एवं परिमित बुद्धिवाला बेचारा जीवात्मा या मनुष्य तो अपनी सारी शक्ति और वर्षोंका परिश्रम लगाकर उसे समझ भी नहीं सका है, फिर वह भला उसका नियंत्रण क्या कर सकेगा? फलतः प्रकृतिके नियंत्रणके लिए जीवात्मासे अधिक शक्ति और बुद्धिवाली सर्वशक्तिमान् एक सर्वज्ञ चेतन-सत्ताकी

आवश्यकता है। इसी सत्ताको धर्मशास्त्रने ईश्वर, खुदा या जिहोवा आदि नामोंसे निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार आस्तिक पक्षका ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास तर्कके दरबारसे समर्थित है और दर्शनशास्त्रके न्यायालयने उसे न्यायानुमोदित ठहराया है।

ईश्वरका स्वरूप

इस प्रकार ईश्वरकी आवश्यकता और उसके अस्तित्वपर विचार कर लेनेके बाद उसके स्वरूप-निर्णयके प्रश्नकी जटिलता भी बहुत कम हो जाती है। दर्शन-शास्त्रको सबसे प्रमुख प्रयोजन एक प्रपंच-प्रसारक और नियामक शक्तिका था, इस लिए ईश्वर या जो कोई भी उस आसनपर अभिषिक्त किया जायगा, उसका सबसे मोटा स्वरूप, सबसे मुख्य कार्य और सबसे विशेष गुण विश्वका विधान और नियमन है। अर्थात् दार्शनिक दृष्टिकोणसे ईश्वर या कोई भी शक्ति जो उस स्थानपर नियत होगी, सबसे पहले विश्वकी विधाता और नियन्ता समझी जायगी। अथवा विश्व-विधान और जगन्नियन्त्रण दार्शनिक ईश्वरका स्थूलतम स्वरूप है।

विश्वका निर्माण एवं नियंत्रण जिसके ऊपर निर्भर है, उसका सम्बन्ध संसारके प्रत्येक पदार्थ—प्रत्येक अणु और प्रत्येक परमाणुके साथ होना आवश्यक है। जहाँ कर्त्ताकी पहुँच है, वहीं तो किसी प्रकारकी क्रिया वह कर सकेगा। इसी लिए विश्व-निर्माण करनेवाला ईश्वर उसमें व्यापक होना चाहिए, बिना व्यापक हुए वह न निर्माण कर सकेगा और न नियंत्रण। इस अपरिमित अनादि और अनन्त विश्वके नियंत्रणके लिए उसे अपरिमित शक्तिका आगार—सर्वशक्तिमान्—अनादि और अनन्त भी मानना ही होगा। विश्वकी आदर्श

व्यवस्थाको ध्यानमें रखते हुए यह भी स्वीकार करना अनिवार्य है कि उसका नियंत्रण करनेवाली सर्वोच्च शक्ति एक है। समान शक्तिवाले अनेक शासक जहाँ होते हैं, वहाँ सुव्यवस्थाका स्थिर रहना असम्भव है। एक बात और है। जिस ईश्वरको हम विश्वका नियन्ता और व्यापक मानते हैं, उसको निराकार मानना भी उतना ही अनिवार्य है। साकारत्व और व्यापकत्वका विरोध है। मोटे रूपसे जगत्में हम यह भी देखते हैं कि सूक्ष्म शक्ति स्थूलपर शासन करती है। हमारे इस स्थूल देहको मनमाने रूपसे चलानेवाली शक्ति कितनी सूक्ष्म है। इसी प्रकार रेलके एंजिनको इधरसे उधर भगाये फिरनेवाली भाप उसकी अपेक्षा कितनी सूक्ष्म है। इस दृष्टिसे भी यही उचित प्रतीत होता है कि परमाणुओंका भी नियंत्रण करनेवाली यह शक्ति उनसे भी अधिक सूक्ष्म—निराकार—होनी चाहिए। इस प्रकार शुद्ध दर्शन-शास्त्रका ईश्वर विश्वका विधाता और नियंता है। सर्वव्यापक और सर्व शक्तिमान् है। अनादि और अनन्त है। एक और निराकार है।

परन्तु दर्शन-शास्त्रका यही ईश्वर मतवादियोंके चक्करमें पड़कर बहुत कुछ विकृत हो गया है, विशेषतः बाइबिल, कुरान और पुराणोंने ईश्वरको बहुत ही उपहासका पात्र बना दिया है। बाइबिलमें खुदाकी जो मूर्ति चित्रित की गई है, वह बहुत ही दयनीय है। उसका निवासस्थान स्वर्ग है। विश्वमें किस समय क्या हो रहा है, इसकी उसको खबर नहीं है। उसके सुरक्षित स्थान 'बागे अदन' में घुसकर किस प्रकार शैतान उसके अपने आदमियों—आदम और हव्वा—को बहका जाता है और उसकी आज्ञा उल्लङ्घन करनेको तैयार कर लेता है, इसका भी उसे पता नहीं है। इस सबका हाल,

बागमें आनेपर आदमकी ज़बानी ही उसे मालूम हो सका। इससे तो अच्छा प्रबन्ध गवर्नमेंटका है। उसका कोई शत्रु ही क्या वैदेशिक मित्र भी भारतमें आकर क्या करता है, क्या खाता है, कहाँ रहता है, किनसे बात करता है, क्या पढ़ता है और कहाँ सोता है, इस सबकी तनिक तनिकसी खबर राज्याधिकारियोंके पास पहुँचती है। उसका गुप्तचर-विभाग और प्रबन्ध इतना पूर्ण है कि किसी शत्रुकी मजाल नहीं कि उसके राज्यमें कोई अवाञ्छित चेष्टा करे और उसे पता न चले। इसके सामने विश्वमात्रका नियंत्रण करनेवाला बाइबिलका खुदा कितना तुच्छ प्रतीत होता है? इसके बाद आदम और हव्वाको इस बग़ावतके लिए जो दण्ड दिया गया है वह और भी विचित्र प्रतीत होता है। ईश्वरीय आज्ञाका उल्लङ्घन तो आदम या हव्वाने किया था और उसका फल आज हमें भोगना पड़ रहा है। मानव-समाजको जीवन-संग्राममें जिन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, वह आदमकी उसी शरारतका परिणाम है।

नूहके सुप्रसिद्ध जल-प्लावनके समय यहोवा (ईश्वर) का आचरण और भी उपहासास्पद हो गया है। बाइबिलमें लिखा है—

"फिर जब मनुष्य पृथ्वीपर बहुत होने लगे और उनके बेटियाँ उत्पन्न हुईं, तब परमेश्वरके पुत्रोंने मनुष्यकी पुत्रियोंको देखा कि वह सुन्दर हैं; सो उन्होंने जिस जिसको चाहा उनको अपनी स्त्रियाँ बना लिया।...........और यहोवाने देखा कि मनुष्योंकी बुराई पृथ्वीपर बढ़ गई है और उनके मनके विचारमें जो कुछ उत्पन्न होता है सो निरन्तर बुरा ही होता है। यहोवा पृथ्वीपर मनुष्यको रचकर पछताया और वह मनमें अति खेदित हुआ। सो यहोवाने

सोचा कि मैं मनुष्यको जिसको कि मैंने सिरजा है पृथ्वीके ऊपरसे मिटा दूँगा। क्या पशु, क्या रेंगनेवाले जन्तु और क्या आकाशके पक्षी सबको मिटा दूँगा। क्योंकि मैं उनके बनानेसे पछताता हूँ"।

—उत्पत्ति ६

बाइबिलका यह यहोबा कितना अविचारशील है! जिस समय उसने स्त्री-पुरुषकी सृष्टि की और उनके हृदयमें यौवनका उच्छृंखल उद्वेग दिया, उस समय उसका परिणाम क्या सोचा नहीं था? वह उद्दाम यौवन, वह छलछलाता सौन्दर्य और वह काम एवं प्रणय-पूर्ण हृदय, यह सब क्या यों ही निरपेक्ष और निश्चेष्ट पड़े रहनेकी चीजें थीं? इनमेंसे एक एक उस परिणामके लिए पर्याप्त हैं जिसके लिए यहोबा पछता रहा है, फिर यहाँ तो—

"तद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः।"

सौभाग्यसे कहिए या दुर्भाग्यसे, यह सब सामग्री उपस्थित थी। आग, ईंधन और उसपर घृतका तो जो फल होना है वह होकर ही रहेगा। यदि हमें वह परिणाम अभीष्ट नहीं है, तो उनका सम्मिश्रण ही न होने देना चाहिए; परन्तु सब कुछ जानते बूझते सम्मिश्रण कर-नेके बाद फिर परिणामके लिए पछताना मूर्खता है। बाइबिलके यहो-वाके लिए इस शब्दका प्रयोग करनेमें केवल शिष्टता बाधक है, वस्तुस्थिति नहीं।

अपने इस पछतावेको दूर करनेके लिए यहोवाने एक भीषण जलप्लावन भेजा। परन्तु नूह नामक एक व्यक्तिपर उसकी विशेष कृपा थी, जिसे उसने पहले ही सावधान कर दिया और उसकी

जीवन-रक्षाके लिए एक जहाज़ भी बनवा दिया जिसमें नूह, उसका परिवार और प्रत्येक प्रकारके प्राणीका एक एक जोड़ा रख दिया—

"तब यहोवाने उसके पीछे द्वार मूँद दिया और प्रलय पृथ्वीपर चालीस दिन लों रहा।........और जल बढ़ते बढ़ते पृथ्वीपर बहुत ही बढ़ गया, परन्तु जहाज़ जलके ऊपर तैरता रहा। प्रलयका जल यहाँ तक बढ़ा कि सारी पृथ्वीपर जितने बड़े बड़े पहाड़ थे सब डूब गये और जल १५ हाथ ऊपर बढ़ गया। क्या पक्षी, क्या बनैले पशु, क्या बनैले पशु और पृथ्वीपर सब चलनेवाले प्राणी वरन् जितने जन्तु पृथ्वीमें बहुतायतसे भर गये थे उन सबोंका और सब मनुष्योंका भी प्राण छूट गया। जो जो स्थलपर थे और उनमेंसे जितनोंके नथनोंमें जीवनके आत्माका श्वास था सब मर मिटे।......और जल पृथ्वीपर १५० दिन तक बढ़ा रहा।

—उत्पत्ति ७

यहोवा अपनी पहली कृतिके लिए 'पछताया' था और यह भयानक जलप्लावन उस पश्चात्तापका ही परिणाम था; परन्तु इस पश्चात्तापके बाद भी उसके हृदयको सान्त्वना नहीं मिली। जलप्लावनके बाद नूहसे उसकी जो बातचीत हुई है, उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चात्तापके व्यक्त स्वरूप—इस जल-प्लावनकी घटना—पर उसे फिर पश्चात्ताप हो रहा है। इसी लिए वह नूहसे कहता है—

"मैं तुम्हारे साथ और तुम्हारे पीछे जो वंश होगा उसके साथ वाचा (प्रतिज्ञा) बाँधता हूँ और तुम्हारे साथ अपनी इस प्रतिज्ञाको मैं पूरा करूँगा कि सब प्राणी फिर प्रलयके जलसे नाश न होंगे और पृथ्वीका नाश करनेके लिए फिर जलप्लावन न होगा। यह लो मैंने बादलमें अपना धनुष रक्खा है, वह मेरे और पृथ्वीके बीच

वाचाका चिह्न होगा। और जब मैं पृथ्वीपर बादल फैलाऊँ तब बादलमें धनुष देख पड़ेगा तब मैं अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण करूँगा।

—उत्पत्ति ९

यह सब विश्व-नियन्ताका वह अदार्शनिक स्वरूप है, जो मतवादके संसर्गसे दूषित होकर हमारे सामने आया है। यह तो एक उदाहरण है, सारी बाइबिल, सारी कुरान और सारे पुराण इसी प्रकारकी बातोंसे भरे हुए हैं। उनमें दार्शनिक विमर्श तो दूर रहा साधारण बुद्धिसे भी तो काम नहीं लिया गया है। परन्तु उस सबकी आलोचना हमारे विषयके अन्तर्गत नहीं है और न पुस्तकका कलेवर ही हमें उस ओर जानेकी आज्ञा देता है। संक्षेपमें यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि मतवादियोंने ईश्वरका स्वरूप अत्यन्त भद्दा बना दिया है। उसमें आकर्षण नहीं है, सौन्दर्य नहीं है और विवेक भी नहीं है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि उन्होंने किसी विवेकी मस्तिष्कको अपनी ओर इतने वलपूर्वक आकृष्ट नहीं किया है, जितनी प्रबलतासे कि अनेक विचारकोंको ईश्वर-विमुख बननेमें सहायता दी है। मतवादके ईश्वरमें बहुतसा ऐसा अंश जा मिला है जिसे नहीं रहना चाहिए। इस सबको छाँट देनेके बाद तब कहीं वास्तविक दर्शन-शास्त्रके ईश्वरका दर्शन हो सकेगा।

बहुदेव-वाद

कुछ पाश्चात्य विद्वानोंका विचार है कि ईश्वर-विश्वासका जन्म भयसे होता है। इसके साथ ही विकास-सिद्धान्त उनके यहाँ एक ऐसा सिद्धान्त है जिसकी उपेक्षा वह किसी भी विषयकी परीक्षामें नहीं कर सकते। जिस प्रकार विज्ञान आदिके अन्यान्य विभागोंमें उनके

क्रमिक विकासके इतिहासका अन्वेषण वह किया करते हैं, उसी प्रकार ईश्वर-विश्वासका भी क्रमिक विकास वह मानते हैं और भिन्न भिन्न जातियोंमें बिखरे हुए ईश्वर-विश्वासको शृंखलाबद्ध कर उसके क्रमिक विकासका इतिहास उन्होंने तैयार कर लिया है। ईश्वर-विकासके क्रमिक विकासमें सबसे प्रथम श्रेणी विभीषिकाकी है, जो प्रारम्भिक अवस्थामें इस ईश्वर-विश्वासको जन्म देती है। संसारके किसी भी देश या जातिका धार्मिक इतिहास लिखते समय उन्होंने सदा इसी नीतिका अवलम्बन किया है। उनका कहना है कि प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्य बिलकुल जंगली था। उसकी न कोई शिक्षा थी, न सभ्यता थी और न धर्म था। उस समय सच्चे अर्थोंमें :" जिसकी लाठी उसकी भैंस "का साम्राज्य था। मनुष्य मनुष्यका दुश्मन था, परन्तु हाँ, जहाँ उसका वश नहीं चलता था वहाँ उसके प्रति विभीषिकामय सम्मानके भाव मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होते थे और वहींसे उस पदार्थकी पूजा प्रारम्भ हो जाती थी। उदाहरणके लिए उस अल्पबुद्धि मनुष्यने प्रारम्भमें जब उगते हुए जाज्वल्यमान सूर्यको देखा या सामने धधकती हुई अग्निका प्रत्यक्ष किया, तो उनकी ओरसे एक प्रकारके भयका भाव उसके हृदयमें पैदा हुआ। उस भयके साथ ही कुछ सम्मानकी मात्रा भी सम्मिलित थी। बस, भय और आदरके इस सम्मिश्रणसे ही सूर्य एवं अग्निकी पूजा प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार जब प्रबल वेगसे बहनेवाली नदियोंमें बाढ़ आई और बड़े बड़े विशालकाय वृक्षोंको बहा ले गई, या मेघकी निरन्तर होनेवाली मूसलधार वर्षाने जल-थल एक कर दिया और उनके रहनेके स्थानोंको जलमग्न कर दिया, तो उन नदियों और मेघोंकी भी वैसी ही पूजा होने लगी।

इसी प्रकार लम्बे-चौड़े पर्वतों और विशालकाय वृक्षोंकी पूजाको भी जन्म मिला। अर्थात् संसारमें जो पदार्थ बहुत लम्बे-चौड़े आकारवाले या अन्य किसी इस प्रकारकी विशेषतासे युक्त होते थे, जिसके देखनेसे मनुष्यके मनमें भयका संचार हो सका, उन सबकी पूजा ही उस समयका धर्म था। इस समयतक वस्तुतः ईश्वर-विश्वासका जन्म नहीं हुआ था। अबतक यह पूजा जड़ पदार्थोंकी पूजा थी। परन्तु ईश्वर-विश्वासका प्रारम्भिक स्वरूप यही जड़-पूजा है। उसके बाद इस सम्बन्धमें मनुष्यका ज्ञान कुछ और बढ़ा। जड़ सूर्य और चन्द्रमाके भीतर, अग्नि और जलके भीतर, नदियों, वृक्षों और पहाड़ोंके भीतर रहनेवाले एक एक अभिमानी देवताकी कल्पना की गई। ईश्वर-विश्वासकी दूसरी श्रेणीमें जड़ पदार्थोंको छोड़कर इन अभिमानी देवताओंकी पूजा प्रारम्भ हुई। यह बहुदेववादका युग था। प्रत्येक पदार्थके भीतर उसके अभिमानी देवताकी खुली सत्ता मानी जाने लगी और उनकी पूजा भी हुई। इस युगमें देवताओंकी संख्या क्या रही होगी, इसकी गणना कर सकना कठिन है। भारतवर्षके ३३ करोड़ देवताओंका जन्म संभवतः इसी युगकी विभूति है। उसके बाद मनुष्यकी बुद्धि ज्यों ज्यों विकसित होती जाती है, उसकी शिक्षा और सभ्यता ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यों जड़ पदार्थोंके भीतर देवत्वकी कल्पनाको जन्म देनेवाले भयकी मात्रा भी कम होती जाती है। इस समय मनुष्य जड़ पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको बहुत बुरा समझने लगता है और उनके भयसे शासित होनेकी अपेक्षा उनके ऊपर शासन करनेकी आकांक्षा उसके हृदयमें उत्पन्न होती है। इसका आवश्यक परिणाम यह होता है कि उपास्य देवताओंकी संख्यामें

क्रमिक ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। देवसंख्यासम्बन्धी यह ह्रास ही एकेश्वरवादका क्रमिक विकास है। इस संख्यासम्बन्धी ह्रासकी अन्तिम श्रेणीमें पहुँचकर एकेश्वरवादको जन्म मिलता है। पाश्चात्य विद्वानोंके अनुसार यही ईश्वर-विश्वासके क्रमिक विकासकी प्रक्रिया है।

एकेश्वरवाद और बहुदेववादकी प्रतिद्वन्द्विता दर्शनशास्त्रका विषय नहीं है, अपि तु धार्मिक इतिहासका विषय है। दर्शनशास्त्र तो एक—केवल एक—नियामक शक्तिकी आवश्यकता बताता है। उसका नामकरण धार्मिक जगत्की कृति है। उस नियामक शक्तिके लिए प्रयुक्त होनेवाले ईश्वर आदि नामोंपर दर्शन-शास्त्रकी अपेक्षा धार्मिक मनोवृत्तिका प्रभाव कुछ अधिक प्रतीत होता है। फिर भी हम इस बातसे इन्कार नहीं कर सकते कि धर्मशास्त्रके इस नामकरणको दर्शनशास्त्रने भी अपना लिया है। बहुदेववादकी आलोचनामें दूरतक जाना हमारे विषयके बाहरकी बात होगी, यह केवल मतवाद या धार्मिक जगत्की सम्पत्ति है। दर्शनशास्त्रकी दार्शनिक तर्कनाओंके साथ तो उसका घोर विरोध है। इसलिए प्रसंगको यहीं छोड़ देना हमें उपयुक्त प्रतीत होता है। फिर भी पाश्चात्य विद्वानोंकी इस सम्बन्धकी एक भ्रान्त धारणापर प्रकाश डाल देना शायद अनुचित न होगा।

वैदिक साहित्यमें अनेक स्थलोंपर मित्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वा, इन्द्र, गरुत्मान्, यम, सूर्य और चन्द्रमा आदि आदिके वर्णन आते हैं। इनके लिए देवता शब्दका प्रयोग भी यत्र तत्र देखा जाता है। पाश्चात्य विद्वान् इसे बहुदेववादका रूप कहते हैं और वैदिक

साहित्यसे बहुदेववादकी शिक्षा मिलती है, ऐसा उनका विचार है। परन्तु उनके इस विचारसे कुछ भारतीय विशेषज्ञ विद्वानोंका मतभेद है। यह बात भारतीय विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि वैदिक साहित्यमें इन सबका उल्लेख पाया जाता है। वह यह भी स्वीकार करते करते हैं कि इनके लिए देवता शब्दका प्रयोग होता है। फिर भी उनका कहना है कि यह बहुदेववादका प्रतिपादन नहीं है। प्राचीन आचार्योंका भी यह विश्वास था कि इन अनेक नामोंसे दर्शनशास्त्रके द्वारा समर्थित उस एक ईश्वरका ही प्रतिपादन किया गया है। अपने इस विचारके समर्थनके लिए वह मनुस्मृतिका—

> एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम्।
> इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥
>
> —मनु० १२।१२३

श्लोक उद्धृत करते हैं। श्लोकका आशय यह है कि उस परमात्माको कोई अग्नि कहता है, कोई मनु। कोई प्रजापति कहता है, तो कोई इन्द्र। कोई प्राण कहता है तो कोई शाश्वत ब्रह्म। अर्थात् इन सब नामोंसे उस एक परमात्माका निर्देश किया जाता है। यह भिन्न भिन्न देवताओंके नाम नहीं हैं। इसी सम्बन्धमें स्वयं ऋग्वेदके मंत्र भी उद्धृत किये जा सकते हैं—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निराहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
> एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
>
> ऋ० म० १, सू० १६४, मंत्र ४६

उस एक परमात्माको ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि,

आदि अनेक नामोंसे कहते हैं। ठीक इसी आशयको लेकर कैवल्य उपनिषद्में लिखा है—

स ब्रह्मा स विष्णुः सः रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्सः परमः स्वराट्। स इन्द्रस्सः कालाग्निस्स चन्द्रमा।

वैदिक साहित्यकी व्याख्यान-पद्धतिके आविष्कारक यास्काचार्यने भी अपने निरुक्तके दैवत काण्डके प्रारम्भमें लिखा है—

महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

अर्थात् उस एक आत्मा—ईश्वर—की ही बहुधा अनेक नामोंसे वैदिक साहित्यमें स्तुति की गई है।

फलतः उपर्युक्त सब प्रमाणोंका मनन करनेसे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वैदिक साहित्यका आदर्श बहुदेववाद नहीं बल्कि एकेश्वरवाद ही है। भारतीय साहित्यमें एकेश्वरवादके दार्शनिक सिद्धान्तका उल्लंघन हुआ है और बुरी तरह हुआ है; परन्तु भारतके भले दिनोंमें नहीं, बुरे दिनोंमें। पौराणिक साहित्य इसका सबसे विशद प्रमाण है। उसमें आदिसे अन्त तक अनेक स्थलोंपर बहुदेववादका स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। परन्तु फिर भी इतना निश्चित भावसे कहा जा सकता है कि इस विषयमें वैदिक साहित्य और दार्शनिक विमर्शके परिणाममें कोई विरोध नहीं है। एकेश्वरवाद वेदका आदर्श है और दार्शनिक विमर्श भी उसीका समर्थन करता है।

खुदा और शैतान

बाइबिलके प्रारम्भमें—सृष्ट्युत्पत्ति-निरूपणके बाद संसारमें पाप या अधर्मकी उत्पत्तिका इतिहास एक कहानीके रूपमें इस प्रकार दिया गया है—

परमात्माने अन्य सब सृष्टिकी रचनाके बाद मनुष्यको बनाया और एक अत्यन्त सुन्दर उद्यानमें जिसे 'बागे अदन' कहते हैं-उसका निवासस्थान नियत किया। 'बागे अदन'में मनुष्यके स्वाभाविक जीवनके लिए उपयोगी हर प्रकारकी सामग्रीका संग्रह था। उसके खानेके लिए विविध प्रकारके फलोंके वृक्ष लगाये गये थे और उसके साथ बातचीत करने एवं खेलने-कूदनेके लिए एक सहचरीकी रचना भी विधाताने की थी। यह जुगल जोड़ी धार्मिक साहित्यमें 'आदम' और 'हव्वा'के नामसे विख्यात है। आदम और हव्वाको बागे अदनकी प्रत्येक वस्तुके उपभोगका पूर्ण अधिकार था, केवल एक फल खानेका निषेध उसे परमात्माने किया था। एक दिन एक साँपने आकर उस फलके सौन्दर्य और गुणोंकी प्रशंसा कर उसके खानेके लिए अनुरोध किया। हव्वाके ऊपर साँपकी बातोंका प्रभाव पड़ गया और उसने ईश्वरके आदेशकी उपेक्षाकर उस निषिद्ध फलको स्वयं खाया और आदमको भी खिलाया। अब तक आदम और हव्वाका जीवन स्वाभाविकताका आगार था, उसमें कृत्रिमताकी उत्पत्ति नहीं हुई थी और न नवयौवनका उद्वेग ही था। अब तक स्त्री-पुरुष दोनों ही दिगम्बर अवस्थामें रहते थे। निषिद्ध फल खानेका सबसे पहला प्रभाव यह हुआ कि उन्हें अपनी नग्नावस्थाका और उसके साथ ही लज्जाका अनुभव हुआ। उस समय उन्होंने उद्यानमेंसे कुछ पत्ते आदि तोड़कर अपने शरीरको आवृत करनेका प्रयत्न किया। उसके बाद परमात्माको जब यह सब हाल विदित हुआ, तो उसने आदम और हव्वा दोनोंको बागे अदनसे पृथक् कर दिया। यही मनुष्यके पतनकी और पापकी उत्पत्तिकी कहानी है। आदम-

हव्वाको साँपके रूपमें आकर बहकानेवालेका नाम बाइबिलमें शैतान रखा गया है। अब तक संसारमें केवल खुदाका राज्य था और वह भी उसपर अपना एकाधिपत्य समझता था; परन्तु यह पहली घटना थी जिसने उसकी आँखें खोल दीं। आज खुदाको विदित हुआ कि संसारमें मेरा एकच्छत्र साम्राज्य नहीं है। मेरा प्रतिद्वन्द्वी शैतान नामक कोई दूसरा व्यक्ति भी मौजूद है। उसके बाद तो खुदा और शैतानकी घोर प्रतिद्वन्द्विता रही है और जगह जगहपर उसका प्रकाश हुआ है।

मनुष्यके पतन और पापके विकासकी यह कहानी यहूदी, ईसाई और मुसलमान तीनों धर्मोंमें समान रूपसे मानी जाती है। इस कहानीका धार्मिक साहित्यमें क्या स्थान है, इस सबकी आलोचनाका प्रयोजन यहाँ नहीं है। हम इससे केवल इतना अंश प्रकृतमें लेना चाहते हैं कि इन धर्मोंके ईश्वरका एकच्छत्र आधिपत्य संसारमें नहीं है। शक्ति और अधिकारकी दृष्टिसे शैतान ईश्वरसे किसी भी प्रकार कम नहीं है। सम्मानकी दृष्टिसे भी—

'स्वदेशे पूज्यते राजा'

अपने राज्यमें—असुर-मण्डलमें उसका भी सम्मान होता है। अन्तर केवल इतना है कि मनुष्य-जगत्‌में उसका अधिकार नहीं है। परन्तु असुर-मण्डलमें ईश्वरका भी तो उतना ही निरादर है। फिर खुदा और शैतानकी स्थितिमें अन्तर ही क्या है? बल्कि यह कहा जा सकता है कि किन्हीं अंशोंमें खुदाकी अपेक्षा शैतानका प्रभाव ही अधिक है। शैतानने अनेक बार खुदाके साम्राज्यमें विघ्न डाला है, उसके प्लानोंको विगाड़ा है और उसकी स्कीमोंको रद्द किया है। परन्तु खुदाने भी कभी शैतानको किसी बातमें नीचा दिखाया हो, ऐसा

तो कहीं पढ़नेको नहीं मिलता । परन्तु यदि हम इस अंशकी उपेक्षा कर दें, तो भी हमें खुदा और शैतानकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। फलतः हम यह कह सकते हैं कि इन धर्मोंमें संसार-की शासक वस्तुतः दो समान शक्तियाँ समझी जाती हैं। अर्थात् उनका आदर्श परिशुद्ध एकेश्वरवाद नहीं है। फिर भी इन धर्मोंके अनुयायी विशेषतः यहूदी और मुसलमान अपनेको एकेश्वरवादी कहते हैं। उनके इस कथनका आशय केवल इतने अंशमें ठीक कहा जा सकता है कि उनका उपास्य देव एक ईश्वर है, वह अनेक देवी देव-ताओंकी उपासना नहीं करते; परन्तु उनके विश्वकी व्यवस्था एक ईश्वरके अधीन नहीं है।

चौदहवाँ परिच्छेद

सांख्याचार्य कपिल

ईश्वरकी सत्ता आस्तिक नास्तिक विचारकोंमें विशेष विवादका विषय रही है, बल्कि किन्हीं लोगोंकी दृष्टिमें तो उसके ऊपर विश्वास ही आस्तिकता और नास्तिकताकी कसौटी है। हम इस सम्बन्धमें अपने विचार किसी पिछले परिच्छेदमें व्यक्त कर चुके हैं। उसी स्थलपर यह भी लिखा जा चुका है कि सांख्याचार्य कपिल और उनका दर्शन दोनों ही कुछ विचारकोंकी दृष्टिमें निरीश्वरवादी समझे जाते हैं; परन्तु फिर भी उनकी गणना नास्तिक श्रेणीमें नहीं की गई। ईश्वरके सम्बन्धमें सांख्याचार्य कपिलके विचार वस्तुतः क्या थे, यह कह सकना कठिन है। सांख्य फिलासफीका जो रूप साधारणतः मिलता है, उसमें कहीं ईश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन या पोषण किया गया हो, ऐसा तो स्थल उपलब्ध नहीं होता। हाँ, कहीं कहींपर उसके विरोधमें अस्पष्ट और धीमीसी आवाज़ अवश्य सुनाई देती है। यह आवाज़ चाहे कितनी ही क्षीण क्यों न हो, परन्तु उसकी ध्वनि निषेध-पक्षकी ओरसे उठी है। इसलिए आचार्यकी मनोवृत्तिका झुकाव उसी ओर प्रतीत होता है, ऐसा निरीश्वरवादके समर्थकोंका विचार है। आचार्यको निरीश्वरवादके गहरे गड्ढेसे बचानेवाले पक्षवादियोंका कहना है कि वह आचार्यके हृदयकी आवाज़ नहीं है, बल्कि किसी कारणवश ऊपरी मनसे कही गई है, इसीलिए वह इतनी अधिक

अस्पष्ट, धीमी और कमज़ोर है। उसमें सिद्धान्त पक्षकीसी दृढ़ता और हार्दिक अनुभूतिका सा ओज नहीं है। आचार्य कपिलकी वह उक्ति जो कि इस सारे विवादका आधार समझी जाती है, प्रधानतः सांख्यदर्शनके

ईश्वरासिद्धेः

—सां०, अ० १, सू० ९२

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः।
सम्बन्धाभावान्नानुमानम्॥
श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य

—सां०, अ० ५, सू० १०, ११, १२

यह चार सूत्र हैं। इनमेंसे पहला सूत्र प्रत्यक्ष प्रमाणके निरूपणके प्रसंगमें लिखा गया है। सूत्रकारने प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण इस प्रकार किया है—

यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्।

—सां०, अ० १, सू० ८९

भाष्यकार विज्ञान भिक्षुके शब्दोंमें सूत्रका अर्थ या प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण यह है—

स्वार्थसन्निकर्षजन्याकारस्याश्रयो वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति निष्कर्षः।

अर्थात् अर्थके साथ सन्निकर्ष होनेसे अर्थाकारमें परिणत चित्त-वृत्तिः ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। हम प्रकृत लक्षणकी विशेष विवेचनामें पड़कर विषयको जटिल और अनुपयोगी नहीं बनाना चाहते, इसलिए लक्षणको हस्तामलकवत् स्पष्ट किये बिना ही आगे बढ़नेके लिए विवश हैं। प्रकृत लक्षणमेंसे हमारे विषयके लिए इतना ही अंश उप-

योगी है कि प्रत्यक्षके लिए सन्निकर्षकी आवश्यकता है, अर्थात् प्रत्यक्ष सन्निकर्षजन्य है। इस प्रकार लक्षण करनेके वाद आचार्यने उसे निर्दोष, विश्वसनीय और अधिक परिपुष्ट बनानेके लिए उसके ऊपर विपक्षियोंकी ओरसे दोषों और शङ्काओंकी उत्थानिका स्वयं की है। इस प्रकरणमें पूर्वपक्षकी ओरसे अन्य दोषोंके साथ एक दोष यह दिया गया है कि ईश्वरका भी ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है, इसलिए तुमने जो प्रत्यक्षका लक्षण किया है, वह ईश्वरीय ज्ञानके विषयमें भी उतनी ही पूर्णताके साथ घटना चाहिए। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। तुम्हारे लक्षणके अनुसार प्रत्यक्ष सन्निष्कर्षजन्य है, परन्तु ईश्वरीय प्रत्यक्ष तो सन्निकर्षजन्य नहीं वल्कि नित्य है। ईश्वर स्वयं नित्य है और उसे भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंके पदार्थ सदैव समान रूपसे परिज्ञात रहते हैं। इसलिए ईश्वरका कोई ज्ञान किसी विशेष समयपर पैदा हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहनेसे उसकी सर्वज्ञतापर आँच आवेगी। इसलिए ईश्वरका ज्ञान प्रत्यक्षजन्य नहीं ठहराया जा सकता और इसीलिए उसमें तुम्हारा प्रत्यक्षका लक्षण अव्याप्त रहता है। फलतः प्रत्यक्षका यह लक्षण जो आचार्यने किया है, सदोष है, अतएव मान्य नहीं। इस पूर्व पक्षके उत्तर रूपमें ही 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्रकी अवतारणा हुई है। सूत्रका अर्थ यह है कि अभी तो स्वयं ईश्वरकी सत्ता ही असिद्ध और विवादास्पद है। जव तक उसकी सिद्धि नहीं, तव तक उस असिद्ध ईश्वरके आधारपर हमारे प्रत्यक्ष लक्षणको सदोष वतलाना कहाँ तक न्यायसंगत ठहराया जा सकता है?

इस प्रकार निरीश्वरवादके पक्षमें यह आचार्यकी पहली युक्ति समझी जाती है। उसके वाद पंचमाध्यायमें चलकर फिर अगले तीन

सूत्रोंद्वारा ईश्वरीय सत्ताके प्रति असहमति प्रकट की गई है। इन तीनों सूत्रोंका आशय यह है कि ईश्वरकी सत्ताका समर्थक कोई प्रमाण नहीं है, फिर विना प्रमाणके उसकी सिद्धि कैसे हो सकेगी? ईश्वर-सिद्धिके लिए प्रत्यक्ष प्रमाणका आश्रय लेनेका दुःसाहस तो कट्टरसे कट्टर प्रत्यक्षवादी भी नहीं करता। हाँ, उसके लिए अनुमान या शब्द-प्रमाणका दरवाजा ही खटखटाया जाता है; परन्तु वहाँ भी तो ईश्वरके लिए स्थान नहीं है। सबसे पहले अनुमानके लिए व्याप्ति ग्रहकी आवश्यकता है, जो बिना प्रत्यक्षके सिद्ध ही नहीं हो सकती और प्रत्यक्ष वेचारा ईश्वरके विषयमें सर्वथैव अन्यथासिद्ध है। तब व्याप्ति ग्रह सिद्ध न होनेपर अनुमान भी कैसे हो सकेगा? इस लिए 'सम्बन्धाभावान्नानुमानम्' सम्बन्ध (व्याप्ति) के सिद्ध न होनेसे अनुमान भी नहीं हो सकता। रहा शब्द, सो वह ईश्वरके पक्षमें गवाही देनेको तय्यार नहीं है। ईश्वरवादी तो जगत्कर्त्ताके रूपमें ईश्वरकी सिद्धि किया चाहते हैं; परन्तु श्रुति तो जगत्को प्रधान (प्रकृति) का कार्य बताती है। ईश्वरका विश्वविधानके लिए कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता। श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य। अर्थात् ईश्वरकी सत्तामें प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं; रहे अनुमान और शब्द, सो उनकी भी प्रवृत्ति उस पक्षमें दिखाई नहीं देती, फलतः विवश होकर यह परिणाम निकालना पड़ता है कि—

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः।

इस प्रकार यह सांख्याचार्यकी दूसरी उक्ति है जो निरीश्वरवादकी भावनाको व्यक्त करती है। इन्हीं दो प्रसंगोंके आधारपर एक पक्ष आचार्य कपिलको निरीश्वरवादकी ओर खींचता है।

इसके विपरीत ईश्वरवादी लोग सांख्यसूत्रोंकी ऊपरी सतह—शब्दार्थ-की विशेष पर्वाह न कर उनके अन्तस्तलमें—लेखकके हृदयमें—पैठकर उसकी असलीयतकी थाह लेना चाहते हैं। शब्द और अर्थ रचनाके शरीर हैं और भाव हैं उसकी आत्मा। कभी निकृष्टतम शरीरके भीतर महत्तम आत्मा और कभी सुन्दरतम देहके भीतर निकृष्टतम आत्मा वसती है। हम यदि केवल बाह्य सौन्दर्य या स्वरूपके आधार-पर किसीकी अन्तरात्माकी परीक्षा किया चाहें, तो बहुधा असफल रहते हैं। समुद्रके ऊपर सतहके पानीमें और अन्तस्तलके छिपे रत्नोंमें कितना अन्तर है? भीतर डुबकी लगाये बिना केवल ऊपरी रंग-ढंगको देखकर किसीके सम्बन्धमें मत स्थिर कर लेना उसके साथ सरासर अन्याय करना है। इस लिए आचार्य कपिलके सम्बन्धमें सेश्वरवाद या निरीश्वरवाद किसी प्रकारका फतवा देनेके पहले हमें उनके ऊपरी स्वरूपको—शब्दार्थ मात्रको—पार कर अन्तस्तलमें घुसने-का यत्न करना चाहिए, तब कहीं हम आचार्यके वास्तविक मनोभावों-को समझ सकेंगे।

इस पक्षके लोग यह स्वीकार करते हैं कि सूत्रोंका शब्दार्थ तो वही है जो निरीश्वरवादके समर्थक करते हैं, परन्तु उनका भाव और आचार्यका हार्दिक अभिप्राय उस निरीश्वरवादसे नहीं है जो इनकी ऊपरी सतहपर दिखाई देता है। हम पहले सूत्र (ईश्वरासिद्धेः) का निरूपण करते समय देख चुके हैं कि आचार्यने प्रत्यक्षका जो लक्षण किया था, उसको दूषित करनेकी भावनासे विपक्षीने ईश्वर-प्रत्यक्षके विषयमें लक्षणको अव्याप्त बनानेकी चेष्टा की थी। विपक्षीकी इस चेष्टाका मुँह-तोड़ उत्तर देनेके निमित्त ही 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्रकी

सृष्टि हुई है। आचार्यको अपनी तर्कशक्ति और विपक्षीकी कमज़ोरी-पर विश्वास है। वह जानते हैं कि मैं यदि अपनी धुँआँधार तर्कना-शक्तिके बलपर ईश्वरकी धज्जियाँ उड़ानेका संकल्प कर लूँ, तो इस विपक्षी बेचारेकी तो मजाल क्या जो उसकी रक्षा कर सके। इसी आत्मविश्वासके बलपर आचार्यने अपने ऊपर आक्षेप करनेवाले विपक्षीका वह मुँह-तोड़ जवाब दिया है कि उसके बाद ज़बान निकालना ही उसके लिए दुश्वार हो गया है। तुम मेरे बनाये प्रत्यक्ष लक्षणको दूषित करना चाहते हो, और वह भी ईश्वर जैसे दुःसाध्य पदार्थके सहारे!! जाओ, पहले यह तो सीख आओ कि ईश्वर-सिद्धि कैसे होती है। फिर जब मेरे सामने बैठकर ईश्वरकी सिद्धि कर लो, तब इस लक्षणकी ओर अपनी मनहूस नज़र उठाना। इस स्थल-पर आचार्यके हृदयमें निरीश्वरवादकी नहीं बल्कि प्रौढ़िवादकी भावना कार्य कर रही थी। उनका आशय यह नहीं है कि वस्तुतः ईश्वरका कोई अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि वह अपने विपक्षीसे केवल यही कह रहे हैं कि मेरे सामने ईश्वरकी सिद्धि कर सकना तुम्हारी शक्तिके बाहर है। सूत्रके शब्दोंसे भी यही भाव टपकता है। यदि सचमुच ही आचार्यको ईश्वरकी सत्तापर विश्वास न होता, तो 'ईश्वरासिद्धेः' जैसे दबे शब्दोंमें नहीं बल्कि 'ईश्वराभावात्' के अधिक ज़ोरदार और स्पष्ट शब्दोंमें उसके अभावकी घोषणा करते। परन्तु वह तो भली भाँति समझते हैं कि इन स्पष्ट शब्दोंमें तो सिद्धान्तपक्षकीसी दृढ़ता है, उनमें इस भावको व्यक्त करनेसे भ्रान्त धारणा हो सकती है। इसीलिए 'ईश्वरासिद्धेः' के दबे शब्दोंमें ही उस मनोभावको व्यक्त किया है। इन शब्दोंमें विपक्ष-दौर्बल्य, आत्मविश्वास और

आत्मीयभावकी भावना तो छलकी सी पड़ती है, परन्तु निरीश्वरवादकी आवाज़ बहुत ही दबी हुई प्रतीत होती है, इसीलिए सांख्य-सूत्रोंके भाष्यकार श्री विज्ञानभिक्षुने इस सूत्रकी व्याख्या करते समय उसमें प्रौढ़िवादकी ध्वनि निकाली है।

पहले स्थलपर जिस प्रकार आत्माभिमानके बीजसे निरीश्वरवादकी उत्पत्ति हुई है, उसी प्रकार दूसरे स्थलपर हितकी भावनाने जागृत होकर सहृदयताके नामपर निरीश्वरवादका समर्थन किया है। आचार्य-का कोमल हृदय सांसारिक अविद्याके बन्धनमें जकड़े हुए पुरुषोंकी विवशता और उनके चरम दु:खको देखकर व्यथित हो उठा है। इसीलिए पुरुषोंको आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दु:खोंसे छुड़ानेके उद्देशसे अपने सांख्य सिद्धान्तकी सृष्टि उन्होंने की है। यद्यपि उन्होंने अपवर्गका साधन तत्त्वज्ञान ठहराया है, फिर भी किसीसे तत्त्वज्ञानकी बातें सुन लेना या पुस्तकोंमें पढ़ लेना मात्र इसके लिए पर्याप्त नहीं है। उसके लिए श्रवण, मनन और फिर निदि-ध्यासनकी आवश्यकता है। योगमार्गका अवलम्बन उसके लिए विशेष उपयोगी होता है। परन्तु योगमार्गके अभ्यासीको अपने ध्येयतक पहुँचनेके पहले कई स्थलोंपर अलौकिक प्रलोभनोंका सामना करना पड़ता है। नाना प्रकारकी सिद्धियों और ऐश्वर्यकी उपलब्धि उनमेंसे प्रमुख प्रलोभन हैं। इन सिद्धियोंके भीतर लोक और परलोककी सारी शक्ति अन्तर्निहित है। उनको प्राप्त करके मनुष्य आकाशमें, पातालमें, सूर्यमें, चन्द्रमामें जहाँ चाहे अप्रतिहत गतिसे विचरण कर सकता है। पशु-पक्षियों और कीट-पतंगोंकी भाषा समझ सकता है। पूर्वजन्मकी और दूसरेके हृदयकी बातोंको जान लेना उसके लिए एक

साधारणसी बात हो जाती है। जब चाहे स्वयं अन्तर्धान हो सकता है। उसकी नज़र दीवार फोड़कर उस पार रक्खी चीज़को देख लेती है। समस्त भुवनोंका, तारा-व्यूहका और अचल ध्रुव तारेकी गतिका सारा वृत्तान्त उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। भूख प्यास उसके पास फटक नहीं सकते। वह मानव-श्रेणीसे मानो बहुत ऊपर उठ जाता है। परमात्माका सारा ऐश्वर्य उसको प्राप्त हो सकता है। परन्तु इन अलौकिक शक्तियों और सिद्धियोंकी उपलब्धि ही तो उसका चरम ध्येय नहीं है। यह तो उस मार्गके प्रारम्भिक फल हैं। अभ्यासीको उन सबकी उपेक्षा करनी है, उनको छोड़कर बहुत आगे जाना है। जो लोग इन सिद्धियों और ऐश्वर्यकी प्राप्तिमें ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, वह अपने उद्देश तक नहीं पहुँच सकते। इस लिए आचार्यकी हार्दिक कामना यह है कि जिस प्रकार हो सके मुमुक्षु अभ्यासियोंके हृदयमें ऐश्वर्य-प्राप्तिकी भावनाको उद्बुद्ध न होने दिया जाय। अन्यथा जबतक इस अलौकिक ऐश्वर्यका आदर्श ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ शक्तिके रूपमें उनके सामने उपस्थित है तबतक तो उनका उस ऐश्वर्यकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है। यह आकर्षण उनको एक ऊँचे आदर्श और स्पृहणीय अवस्था तक पहुँचा देता है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु फिर भी वह उनके ध्येयकी प्राप्तिमें बाधक ही होता है। इसलिए मुमुक्षु साधकके सामनेसे यदि इस आदर्शको हटा दिया जाय, तो उसमें साधकका कोई अहित तो नहीं होता, हाँ उसके पथभ्रष्ट होनेके सम्भावना जाती रहती है। इसी भावनासे आचार्यने दूसरी बार फिर दबे शब्दोंमें निरीश्वरवादकी बात कही है। इस स्थलपर भी वस्तुतः उनका आशय ईश्वरके प्रतिषेधसे नहीं है।

सांख्य-दर्शनके भाष्यकार श्रीविज्ञानभिक्षुने अपने भाष्यकी भूमिकामें यही सिद्धान्त स्थिर किया है। उनके शब्द इस प्रकार हैं—

'असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्' इत्यादिशास्त्रैर्निरीश्वरवादस्य निन्दितत्वात्, अस्मिन् शास्त्रे व्यावहारिकस्यैव ईश्वरप्रतिषेधस्यैश्वर्यवैराग्याद्यर्थमनुवादत्वौचित्यात्। यदि हि नित्यैश्वर्यं न प्रतिषिध्येत तदा परिपूर्णनित्यनिर्दोषैश्वर्यदर्शनेन तत्र चित्तावेशतो विवेकाभ्यासप्रतिबन्धः स्यादिति सांख्याचार्याणामाशयः।

अर्थात्, 'असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्' इत्यादि अनेक शास्त्रीय प्रसंगोंमें निरीश्वरवादकी स्पष्ट शब्दोंमें निन्दा की गई है, इस लिए यह उचित प्रतीत होता है कि इस सांख्य शास्त्रमें यदि कहीं निरीश्वरवादकी भावना मिलती है तो वह केवल व्यावहारिक भावना ही समझी जावे, पारमार्थिक नहीं। इस व्यावहारिक ईश्वर-प्रतिषेधका भी विशेष प्रयोजन यह है कि साधककी मनोवृत्ति ऐश्वर्यप्राप्तिकी ओर न झुके। यदि इस प्रकार व्यावहारिक रूपसे ऐश्वर्य-प्रतिषेध न किया जाता, तो बहुत संभव था कि उस नित्य निर्दोष परिपूर्ण ऐश्वर्यको देख उस ओर चित्त आकृष्ट हो जानेसे साधकके विवेकाभ्यासमें विघ्न उपस्थित होता। निरीश्वरवादके पक्षमें अपनी दबी हुई आवाज़ उठाते समय सांख्याचार्यका वास्तविक मनोभाव यही था।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। अन्य दर्शनोंकी भाँति ही सांख्य-फिलासफीका अन्तिम उद्देश अपवर्गकी प्राप्ति या पुरुषको आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक दुःखोंसे छुड़ाना है। सांख्याचार्य कपिलने अपनी इस उद्देशसिद्धिके लिए जिस साधनका

अवलम्बन किया है, उसमें उन्हें ईश्वरसम्बन्धी चर्चा लानेका विशेष प्रयोजन ही नहीं पड़ा है। उनका विचार है कि वस्तुतः पुरुषके साथ सुख-दुःखका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, वह उसकी एक काल्पनिक धारणा मात्र है। यदि मनुष्य ज़रासे विवेकसे काम ले, तो उसकी यह भ्रान्त धारणा दूर हो सकती है और उसके साथ ही उसके दुःखोंका भी अन्त हो सकता है। वास्तविक दृष्टिसे यदि देखा जाय, तो दुःखका एक मात्र कारण ममत्व है। जहाँ ममत्वकी मात्रा जितनी ही अधिक है वहाँ दुःखका परिणाम भी उतना ही अधिक होता है और जहाँ ममत्वका संबंध नहीं है वहाँ दुःखका लेश भी नहीं होता है। उदाहरणके लिए हम जानते हैं कि हमारा यह स्थूल देह उसी प्रकारका एक भौतिक पदार्थ है, जिस प्रकार ईंट और पत्थर। उसकी लम्बाई चौड़ाईमें, कठोरता और कोमलतामें भले ही अन्तर हो, परन्तु हैं दोनों एक ही श्रेणीके। दोनों ही जड़ हैं, दोनों ही भौतिक हैं। उन दोनोंकी स्थितिमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। अब यदि उस ईंट पत्थर या लकड़ीको कोई छैनीसे काटता है, तो हमें किसी प्रकारकी व्यथाका अनुभव नहीं होता; परन्तु उसी श्रेणीके भौतिक देहके ज़रासी सुईके चुभने-पर भी हम क्लेशके मारे चीख़ उठते हैं, यह क्यों? केवल इस लिए कि इस जड़ देहके साथ हमने ममत्व जोड़ रक्खा है। इसी प्रकारका दूसरा उदाहरण; हमारे मकानके प्लास्टरको या उसके कोनेपर लगी हुई ईंटको कोई तोड़ता फोड़ता या हानि पहुँचाता है, तो हम उससे लड़नेके लिए तैय्यार हो जाते हैं, परन्तु अन्यत्र कहीं इस प्रकारका कार्य कितने ही परिमाणमें क्यों न होता रहे, हमें उसकी तनिक भी चिन्ता नहीं होती। यह उस मकानके साथ जोड़े गये हमारे ममत्वका प्रभाव

है। इसी भाँति प्रत्येक प्रकारके सांसारिक क्लेशका मूल यही ममत्व है। जिन लोगोंने ममत्वकी इस काल्पनिक और भ्रान्त धारणाको निकाल दिया है, उनके दुःखकी मात्रा भी उतनी कम हो गई है। भारतीय इतिहासमें जनक आदिके अनेक उदाहरण आते हैं कि उधर उनका हाथ धधकती हुई अँगीठीमें पड़ा है और इधर वह निश्चिन्त भावसे बैठे ऋषियोंके साथ वार्तालाप कर रहे हैं। मानो उस जलते हुए हाथसे उनका कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। इस प्रकारके उदाहरणोंका रहस्य यही है कि उन्होंने ममत्वकी इस भ्रान्त धारणाको निर्मूल कर दिया था। उन्होंने सिद्धान्त रूपसे नहीं बल्कि क्रियात्मक रूपसे समझ लिया था कि इस जड़ देहसे या अन्य सांसारिक प्रपञ्चसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। न मैं किसी कामको ही करता हूँ जिसके सुफल या कुफलका प्रभाव मेरे ऊपर पड़ सके। इस प्रकार संसारमें हर तरहके ममत्वकी भ्रान्त और काल्पनिक धारणाको मिटा डालना, यही दुःख-नाशका सच्चा उपाय है और इस ममत्वके नाश हो जानेसे पैदा हुआ दुःखाभाव ही वास्तविक अपवर्ग है। इस लिए जनक सरीखे वह लोग जिन्होंने इस ममत्वको मिटा डाला है देह-बद्ध रहते हुए भी जीवन्मुक्त कहलाते हैं। सांख्य फिलासफीने प्रकृति और पुरुषकी जिस भेद-भावनाके लिए इतना बल दिया है वह यही है और उस तत्त्वाभ्यासका फल भी यही ममत्वका नाश है। सांख्य-कारिकाके लेखकने इसी भावको इस प्रकार व्यक्त किया है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

श्रीवाचस्पति मिश्रने इस कारिकाकी व्याख्या इस प्रकार लिखी है—

'नास्मि' अनेनात्मनि क्रियामात्रं निषेधति। यथाहुः—कृभ्वं

स्तयः क्रिया सामान्यवचना इति । तथा चाध्यवसायाभिमानसंकल्पालोचनानि चान्तराणि । बाह्याश्च सर्वे व्यापारा आत्मनि प्रतिसिद्धानि बोद्धव्यानि । यतश्चात्मनि व्यापारावेशो नास्त्यतो 'नाहम्'। अहमिति कर्तृपरम्; 'अहं जानामि' 'अहं जुहोमि' 'अहं ददे' 'अहं भुञ्जे' इति सर्वत्र कर्तुः परामर्शात्। निष्क्रियत्वे च सर्वकर्तृत्वाभावः। ततः सुष्ठूक्तं 'नाहम्' इति। अत एव 'न मे'। कर्त्ता हि स्वामितां लभते, तदभावात्तु कुतः स्वाभाविकी स्वामिता?'

अर्थात् सांख्याचार्यके द्वारा बतलाये गये तत्त्वाभ्याससे साधकको यह यथार्थ ज्ञान हो जाता है, कि 'नास्मि'। आत्मामें क्रिया मात्रका अभाव है, अर्थात् मैं तो वस्तुतः कुछ करता ही नहीं हूँ, इस लिए किसी क्रियाके सुफल या कुफलका कोई प्रभाव मुझपर नहीं पड़ता। 'नाहम्' पदसे आत्मामें कर्तृत्वका निषेध है, जो निष्क्रियत्वका अनिवार्य परिणाम है। और जहाँ कर्तृत्व है वहीं स्वामित्व रहता है। इस लिए मैं न तो कर्त्ता हूँ और न किसीका स्वामी हूँ। बस, इस तत्त्वज्ञान या ममत्वके नाशसे अपवर्गकी प्राप्ति या दुःखका नाश होता है।

फलतः दुःखत्रयका अत्यन्त नाश करना ही सांख्य फिलासफीका ध्येय है और यह तत्त्वज्ञान या ममत्वनाश उसका उपाय। सांख्याचार्यको अपनी सारी शक्तिका उपयोग इस तत्त्वज्ञानमें-और केवल इसी तत्त्वज्ञानमें-करना है। इससे कोई अधिक कर्तव्य उनके लिए शेष नहीं है। इस प्रकृति-पुरुषके भेद-ज्ञान या ममत्वके नाशके लिए ईश्वरसिद्धिका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है।

ईश्वरसिद्धि उनके उद्देश-साधनमें विशेष उपयोगी तो है ही नहीं, हाँ वह उसके साधकके चित्तको ऐश्वर्यप्राप्तिकी ओर आकृष्ट कर उसके विवेकाभ्यासमें विघ्न अवश्य पैदा करती है। इस लिए हम

देखते हैं कि सांख्याचार्यने ईश्वर-सिद्धिके झगड़ेमें अपना समय गँवानेका कष्ट नहीं किया है।

ईश्वरवादी और निरीश्वरवादियोंकी ओरसे सांख्य फिलासफ़ीकी जो व्याख्यायें की जा सकती हैं, वही ऊपरकी पंक्तियोंमें दी गई हैं। इन दोनोंपर तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करें, तो निरीश्वरवादियोंकी अपेक्षा ईश्वरवादियोंका पलड़ा अधिक भारी दिखाई देता है। निरीश्वरवादी आचार्यके केवल शब्दोंको लेते हैं, वह उनके भीतर नहीं घुसते, लेखकके मनोभावोंको समझने और परिस्थितियोंकी आलोचना करनेका भी यत्न नहीं करते। केवल ऊपरी सतहके बाहरी रूपको देखकर वह उसकी वास्तविकता और अन्तरात्माको समझना चाहते हैं। यह उनकी भूल है—

नारिकेलफलाकाराः दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः।
अन्ये वदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः॥

भगवान् बुद्ध

धार्मिक क्रांतिकी दृष्टिसे भारतीय इतिहासका माध्यामिक युग सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण कहा जा सकता है। सदियाँ गुज़र चुकी हैं, मगर आज भी वह समस्याएँ और वह पहेलियाँ जिन्हें यह युग आलोचक-समाजके सामने उपस्थित कर गया है, ज्योंकी त्यों बनी हुई हैं। भारतीय सभ्यताके समर्थक बड़े-बड़े दिमाग़ोंने उन गुत्थियोंके सुलझानेका प्रयत्न किया; मगर यह तो वह जाल है, जो सुलझनेके बजाय और भी उलझता जा रहा है। महात्मा बुद्ध इसी माध्यमिक कालकी विभूति हैं और उनकी सृष्टिका श्रेय संभवतः उन्हीं समस्याओंको है। जिस ज़मानेका हम जिक्र कर रहे हैं, वह याज्ञिक काल था। उस समय लोगोंकी विचारशक्ति और मनोवृत्ति एक

विशेष प्रवाहमें बह रही थीं। उस धारामें औद्धत्य था, वेग था, और थी हठात् दूसरोंको वहा ले जानेकी प्रवल शक्ति, जैसी बरसातकी तूफ़ानी धारमें पाई जाती है। परन्तु वह सोमता, वह सुन्दरता और वह स्थिरता, जो शरदमें बहनेवाली गंगाकी धारामें होती है, जो सुदूरवर्ती मानसरोवरमें विचरण करनेवाले मराल-कुल-नायकको भी खींच ला सकती है, टुक देखनेको भी न मिल सकती थी। उस भीषणता और उससे पैदा हुई मलिनताने मंदाकिनीके उन मनोरम तटोंको भी, जिनपर वास करनेको देवता तक तरसते हैं, इतना भ्रष्ट और गँदला कर दिया कि बड़े बड़े राजहंस, जिनके ऊपर जननी जाह्नवी भी नाज़ कर सकती थी, उसे छोड़कर जानेके लिए विवश हो गये। वह तो राजहंस हैं, परमहंस हैं, गंदगीको वह पसंद नहीं करते। भ्रष्टता और मलिनता उनके लिए असह्य है, फिर चाहे वह स्वर्गके साम्राज्यमें हो अथवा भगवती भागीरथीके भूभागमें। वह तो हैं वह राजहंस—परमहंस, जो—

गङ्गातीरमपि त्यजन्ति मलिनं, ते राजहंसा वयम्।

यही मलिनता एवं भ्रष्टता थी, जिसने कुमार सिद्धार्थ जैसे आस्तिक कुलोत्पन्न राजहंसको 'बुद्ध' बना दिया—वैदिक विज्ञानसे विमुख कर दिया। आज विश्वके इस विशाल वक्षःस्थलपर राम और दयानन्दने भी, वह व्यापक सम्मान नहीं पाया, जो याज्ञिक कालकी इस विभूति—भगवान बुद्धको प्राप्त हुआ है। कहीं वह राजहंस वैदिक विज्ञानके विमल वारिमें विचरण करनेवाला राजहंस होता! वह तो राजहंस है, जहाँ भी रहेगा, पुजेगा—

यत्रापि कुत्रापि वसन्ति हंसाः,
हंसा महीमण्डलमण्डनानि।

हानिस्तु तेषां हि सरोवराणां,
येषां मरालैः सह विप्रयोगः ॥

भगवान् बुद्धने अपने जीवन-कालमें सदाचारके जिन परम आदर्शोंका प्रचार किया, वह आज भी उसी भाँति अक्षुण्ण बने हुए हैं और संसारके बहुत बड़े भागमें आदरके साथ देखे जाते हैं। महात्मा ईसाके सदाचारिक नियमोंके निर्माणमें भी उन्होंने बहुत कुछ सहायता दी है। बौद्ध सदाचार मानव-जीवनका चरम आदर्श है। उसके साँचेमें ढला हुआ व्यक्तित्व कितना ऊँचा होगा, उसका कुछ अनुमान भगवान् बुद्धके वैयक्तिक चरित्रसे भली भाँति लगाया जा सकता है। इतना ऊँचा! इतना सुन्दर!! और इतना आकर्षक चरित्र!!! वह तो स्वर्गकीसी विभूति लगती है, इस मर्त्यलोकमें उसका दर्शन मनुष्योंके अत्यन्त पुण्यमय प्रारब्धसे ही हुआ है। उसके उज्ज्वल आलोकसे भारतका अमित अतीत परम आलोकित हो रहा है। परन्तु इतने बड़े महापुरुषका हृदय ईश्वर-विश्वाससे छलछलाता दिखाई नहीं देता, इसे हम माध्यमिक युगके अनाचारका ही परिणाम कह सकते हैं। ईश्वरके सम्बन्धमें भगवान् बुद्धके विचारोंको प्रकट रूप कम मिला है। परन्तु जहाँ कहीं भी उन्होंने इस विषयमें अपने विचार व्यक्त किये हैं, उन्हें ईश्वर-विश्वासका समर्थक नहीं कहा जा सकता। मानव-समाजके अपरिमित दुःखोंसे व्यथित होकर उनके प्रतिकारके अन्वेषणमें ही भगवान्ने अपने सारे जीवनको व्यतीत किया है। अपने अन्वेषणके द्वारा प्राणियोंके दुःखोंके नाशका जो उपाय उन्हें मिला है, उसमें ईश्वरके अस्तित्व या नास्तित्वका कोई प्रयोजन भगवान्को दिखाई नहीं दिया। ईश्वर-चर्चाके चक्करमें पड़े बिना भी मानव-जीवनको अधिकसे अधिक सुखी बना सकनेके उपायका आविष्कार उन्होंने

कर लिया था, यही उनके जीवनका उद्देश था, इसीलिए बौद्ध फिलासफीमें ईश्वरके लिए कोई स्थान हमें उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि बौद्ध दार्शनिक ईश्वरके कट्टर विरोधी रहे हैं, और ईश्वरवादी दार्शनिकोंके मार्गमें सबसे प्रबल प्रतिबन्ध उन्हींकी ओरसे लगाये गये हैं; फिर भी स्वयं भगवान् बुद्धको हम ईश्वरका इतना कट्टर विरोधी नहीं पाते हैं। प्रकृत प्रसंगमें कहे गये उनके शब्दोंमें बहुत कुछ कोमलता है, कट्टरता नहीं। एक बार ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर भगवान्ने अपने शिष्योंसे कहा था—

" ईश्वरप्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेपर भी किसी ईश्वरकी उपलब्धि मुझे नहीं हो सकी है; परन्तु ईश्वरान्वेषणके इस प्रयत्नमें मुझे निर्वाणका मार्ग अवश्य मिल गया है। वस्तुतः परमात्माका कोई अस्तित्व है या नहीं, इस सम्बन्धमें मैं कुछ नहीं कह सकता और न उसकी आवश्यकता ही समझता हूँ, परन्तु जीवनके यथार्थ स्वरूपका मनन करते हुए मैं इस परिणामपर अवश्य पहुँच सका हूँ कि संसारमें इन दुःखोंसे हमारा छुटकारा बिना ईश्वरके—उससे बिल्कुल पृथक् रहकर भी—हो सकता है। मैं तुमको निर्वाणका पथ दिखला सकता हूँ, बस उससे ही सन्तोष करो।"

इन शब्दोंके भीतर निरीश्वरवादियोंके लिए कुछ सामग्री मिल अवश्य जाती है; परन्तु वह इतनी कम है कि उसके ऊपर ही सन्तोष नहीं किया जा सकता। संक्षेपमें भगवान् ईश्वरवादी नहीं हैं और कट्टर निरीश्वरवादी भी नहीं हैं, बल्कि ईश्वरकी ओर सर्वथा उदासीन हैं। क्योंकि उन्हें अपने उद्देश—निर्वाण—की सिद्धिके लिए ईश्वरकी सत्ताकी आवश्यकता ही नहीं हुई।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

सामाजिक बहिष्कार

दार्शनिक एवं धार्मिक प्रवृत्तिके लोगोंको छोड़कर, ईश्वरके सम्ब-न्धमें विशुद्ध सामाजिक मनोवृत्तिसे विचार करनेवाले आलोचकोंकी एक श्रेणी और भी है, परन्तु इसका जन्म बहुत अर्वाचीन कालमें या अभी हालमें ही हुआ है। सम्भव है, इस प्रकारके स्फुट विचार दो चार व्यक्तियोंमें पहले भी रहे हों; परन्तु उनको एक सामाजिक सिद्धान्तका स्पष्ट रूप देनेका अधिकांश श्रेय रूसके साम्यवादको है। साम्यवादका जन्म रूसके अत्याचारमय ज़ार-युगके अन्तिम दिनोंमें हुआ और उसने न केवल ज़ारशाहीका ही अन्त कर दिया, बल्कि राजा और प्रजा, गरीब और अमीर, मालिक और मज़दूरकी धारणाको भी समाजसे मिटा डालनेका अथक प्रयास किया। अपने इस साम्य-वाद सिद्धान्तको अटल सत्यकी भाँति रक्षा कर सकनेमें रूस सफल होगा या नहीं; इसे अभी साम्यवादके शैशवके दिनोंमें नहीं कहा जा सकता, परन्तु सुदूर भविष्य इस विषयमें दृढ़ताके साथ अपना मत प्रकाशित कर सकेगा। फिर भी वर्तमान समयमें रूसमें उस सिद्धा-न्तको आशातीत सफलता हुई है। राजा और प्रजा, गरीब और अमीरका भेद-भाव रूसके सामाजिक क्षेत्रमें आज नहीं है। इस भेद-भावनाके साथ ही साथ ईश्वरीय सत्ताका भाव भी रूसकी जनताके हृदयसे उठ गया है। उनका विचार है कि संसारमें राजा और प्रजा,

शासक और शासित, स्वामी और सेवक आदिकी अनिष्ट भावनाओंकी उत्पत्ति केवल ईश्वर-विश्वासके कारण हुई है। विना उस मूलके नाश किये समाजसे इस भेद-भावना और उसकी दुःखद अवस्थाका अन्त नहीं हो सकता, इसलिए साम्यवादके नेताओंने अपनी सारी शक्ति लगाकर ईश्वर-बहिष्कारके आन्दोलनको प्रचलित और सफल किया है। यह बहिष्कार दार्शनिक या धार्मिक भावनाओंसे नहीं हुआ है; बल्कि विशुद्ध सामाजिक बहिष्कार है।

रूसके साम्यवाद सिद्धान्तका प्रभाव स्वाभाविक रीतिसे भारतीय जन-समाजपर भी पड़ा है। यहाँ तक कि ब्रिटिश सरकार उसके लिए सचिन्त और भारतीय मनोवृत्तिको उस प्रवाहमें न जाने देनेके लिए विशेष सचेष्ट है। परन्तु भारतमें यह आन्दोलन अभी तक बहुत थोड़े मन चले और गिने चुने लोगोंमें ही सीमित है, जनताके भीतर प्रविष्ट होकर सामाजिक सिद्धान्तका रूप उसे अभी नहीं मिला है। आन्दोलनके राजनीतिक अंशको छोड़कर केवल ईश्वर-विश्वाससम्बन्धी अंशसे इस समय हमें प्रयोजन है। इस विषयमें साम्यवादी प्रचारकों-का वक्तव्य और युक्तियाँ क्या हैं, इसे हम अपने शब्दोंमें नहीं, बल्कि उसी विचारके एक लेखकके शब्दोंमें नीचे उद्धृत करते हैं। यह पंक्तियाँ उस लेखकके एक विस्तृत लेखमेंसे यत्र तत्रसे उठाये गये अंशमात्र हैं, इसलिए क्रमबद्ध भाषाका सौन्दर्य उनमें नहीं मिलेगा, फिर भी उनकी ओरसे जितनी भी युक्तियाँ इस सम्बन्धमें दी जाती हैं, उन सबका संग्रह प्रायः इन पंक्तियोंमें हो गया है—

"मनुष्य जो धार्मिक विश्वास और ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार किये बैठा है, उसका बेसमझी और अविचार इतना कारण नहीं है,

जितना दुःख और हार्दिक असन्तोष। गरीब वेपढ़े लोगोंका जीवन इतना बुरा है, उनको खाने पहनने आदिकी इतनी तकलीफ़ है कि जब वे कुड़कुड़ाते और जलते हैं, तो सारा दोष किसी ऐसी शक्तिके मत्थे मढ़ देते हैं, जो उनसे भिन्न है। यदि वे ईश्वरके बदले अपने कष्टोंका दायित्व ज़बरदस्त, सतानेवाले और अधिकारप्राप्त लोगोंपर डालें, तथा सामाजिक अतिक्रांतिके लिए तैयार हों, तो अधिक अच्छा हो, इनका दुःख दूर हो जाय। ईश्वरको मान लेनेसे दुःखोंसे छुटकारा मिलते नहीं देखा जाता। यदि मिलता तो पत्थरको रोटी मान लेनेसें भी काम चल जाता। सारांश यह कि ईश्वरका जन्म मूर्खतासे हुआ, और भय, छल तथा असन्तोषने इसकी यथावसर पुष्टि की।

"सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्यका ज्ञान इतना समृद्धिशाली न था, जैसा अब है। उनकी योग्यता कम थी; उनके मनोवेग यथार्थ काम न दे सकते थे, जैसे बालकका हाल है। इस लिए उसने देवी, देव, नबी, रसूल, अवतार—जो भी किसीने कहा, मान लिया। यह सब मनुष्यकी ही कल्पना है, वास्तविकता कुछ नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि मनुष्यने जो कल्पना की, अपने ही रूपके अनुरूप की। राज-दरबार, ज़बरदस्तोंकी तलवार, धनवानोंका सुखमय आगार देखकर हमने भी ईश्वरके दूत, जेलके बदले नरक, भोग-विलासके स्थानमें स्वर्ग आदिकी कल्पना कर ली। पुराण, बाइबिल, कुरानकी गाथाओंको देखकर इस कल्पनाकी निःसारता सहज ही समझमें आ जाती है।

"ईश्वरको स्वामी और मनुष्यको दास माननेसे ही संसारमें गुलाम और स्वामीकी सृष्टि हुई। इस विश्वासको लोगोंने अवतार, नबी आदि

बनकर फैलाया और पुजे। जबतक ईश्वर सबका स्वामी है, मनुष्य दास है। जहाँ ईश्वरका स्वामित्व मिटा कि मनुष्यकी दासताका भी अन्त हुआ समझो। इस लिए ईश्वरको मिटाना, मनुष्यकी दासताको हटाना तथा मनुष्योंमें समता और न्यायका प्रचार करना है। ईश्वरको मानना बुद्धि और न्यायको एकदम तिलाञ्जलि देना है—मनुष्यकी प्राकृत स्वतन्त्रताका निश्चय नष्ट करना है। इस लिए यदि हम मनुष्य-जातिका कल्याण चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें धर्म और ईश्वरको गद्दीसे उतारना चाहिए। आँखोंसे दिखलाई देनेवाले और बुद्धिग्राह्य जगत्को मिथ्या मानकर एक निर्मूल पदार्थको सर्वश्रेष्ठ मान बैठनेसे बड़ी और क्या नादानी हो सकती है?

"धर्मने मनुष्यको कितना नीचे गिराया, कितना कुकर्मी बनाया, इसको हम स्वयं सोचकर देखें। ईश्वरका मानना सबसे पहले बुद्धिको सलाम करना है। जैसे शराबी पहला प्याला पीनेके समय बुद्धिकी बिदाईका सलाम करते हैं, वैसे ही खुदाके माननेवाले भी बुद्धिसे बिदा हो लेते हैं। ईश्वरकी कल्पना मनुष्यको निर्बल, निकम्मा, पर-मुखापक्षी एवं गुलाम बना डालती है। धर्म ही हत्याकी जड़ है। कितने पशु धर्मके नामपर रक्तके प्यासे ईश्वरके लिए संसारमें काटे जाते हैं, इसका पता लगा कर पाठक स्वयं देख लें। आज हमारे देशके बड़े बड़े विद्वान् यदि ब्रिटिश गवर्नमेन्टको निकालनेके पहले ईश्वरको निकाल देते, धर्मकी फाँसी अपने गलेसे निकाल फेंकते, तो उनमें कभीका इतना बल आ जाता कि अपने देशका शासन आप करते। ज्यों ज्यों दुनियामें बुद्धिका विकास होता जाता है, त्यों त्यों ईश्वरकी थोथी कल्पना मिटती जाती है। समय आवेगा कि धर्मकी

बेहूदगीसे संसार छुटकारा पाकर सुखी होगा और आपसकी कलह मिट जायगी। खुदा है क्या वस्तु? कोई वस्तु? कोई व्यक्ति? कोई मनोगतभाव? कुछ नहीं—एक मात्र निर्मूल कल्पना, एक कुविचार-जन्य शब्द। मनुष्यसे अधिक सुन्दर, चतुर, शक्तिशाली, ज्ञानवान्, भद्र, परोपकारी, न्याय और दयाको समझनेवाला न तो कुछ है, न हो सकता है। लेकिन जब कुछ मनुष्य दूसरोंको सतानेवाले देखे जाते हैं, तो लोग एक सर्वश्रेष्ठकी कल्पना करते हैं। यह नहीं समझते कि मनुष्योंमें ही भले और बुरे दोनोंकी पराकाष्ठाके नमूने हैं। इसीको देखकर ईश्वरमें क्रोध, बदला और नाशकारी शक्तिका आरोप किया गया है। मनुष्यका ही मनन करो, प्रकृतिका पाठ पढ़ो, इसीमें हमारा कल्याण है। एक अत्याचारी, एक मूर्ख शासक, खुद-मुख्तार, एवं रद्दी ईश्वरकी कल्पना करना मानो स्वतंत्रता, न्याय और मानव-धर्मको तिरस्कार करके दूर फेंक देना है। यदि आप चाहें कि ईश्वर आपका भला करे, तो उसका नाम एकदम भुला दें। फिर संसार मंगलमय हो जायगा।

"वेद, पुराण, कुरान, इंजील आदि सभी धर्मपुस्तकोंके देखनेसे प्रकट है कि सारी गाथाएँ वैसी ही कहानियाँ है, जैसी कुपढ़ बूढ़ी दादी—नानी अपने बच्चोंको सुनाया करती हैं। गीदड़, पड़िया और राक्षसकी जो कहानियाँ मैंने अपनी दादीसे सुनी थीं, मुझे आजतक याद हैं, और धर्म-ग्रन्थोंकी बातें इससे कहीं बेहूदगी-में बहुत आगे बढ़ जाती हैं। इसका कारण मानव-बुद्धिका अपूर्ण विकास, बाल्यावस्थाका मूढ विश्वास ही हो सकता है, न कि और कुछ। ईश्वर, देवता, नबी, वली वगैरह-वगैरहकी बुद्धिविरुद्ध

कल्पनाएँ मूर्खोंके ही सिरमें पैदा हो सकती हैं, और उन्हींके भाई-बन्द उनको सुनकर उनपर विश्वास कर सकते हैं। बिना देखे-सुने, अनहोने, लापता ईश्वर या खुदाके नामपर अपने देशको, जातिको, व्यक्तित्व और धन संपत्तिको नष्ट कर डालना, एक ऐसी बड़ी मूर्खता है, जिसकी उपमा नहीं मिल सकती। हमारे देशमें करोड़ों हरामखोर इसी बेहूदा कल्पनाकी बदौलत मजे उड़ाते हैं और रात दिन श्रम करनेवालोंको एक टुकड़ा रोटी भी यथासमय नहीं मिलती।

"वह बुद्धि-विहीन मस्तक कैसा विचित्र होगा, जिसने 'कुछ नहीं' को सत्य, न्याय, सौन्दर्य, बल, धन, जनसे संपन्न और मनुष्यको नीच, हेच, पतित, निर्बल, निकम्मा, पापी माना तथा मनवाया होगा। आओ, आज इस बेहूदगीका परदा फाड़कर संसारको सुखी बनानेके लिए उसके गलेसे गुलामीका तौक़ उतारनेके लिए, घोषणा करें कि 'ईश्वर' नामका कोई पदार्थ नहीं है—मनुष्य-बुद्धिकी विडम्बना मात्र है। जबतक यह कल्पित स्वामी—ईश्वर—हमारे सिरपर रहेगा, हमारी गुलामीका अंत न होगा। ईश्वर गया और गुलामी भी गई। ईश्वर ही सब पापोंकी जड़ है, सब फ़सादोंका आदि कारण है; इस नामके भूल जानेमें ही हमारा कल्याण है। प्रह्लादके पिताके चातुर्य और प्रह्लादकी अदूरदर्शिताका पता उन विचारशीलोंको लगेगा, जो बातकी तहमें गहरे घुसकर देखेंगे। खुदा यदि हमारे कल्याणका हेतु हो सकता है, तो सिर्फ इसी तरह कि वह हमारे बीचसे सदाके लिए अपनासा मुँह लेकर चला जाय। सच तो यह है कि संसार खुदासे तंग आ चुका है।

"हमारे कुछ दोस्तोंने प्रकृतिकी आंतरिक, अवच्छिन्न शक्तिको

(Inherent force in matter) ही ईश्वर मानकर प्रार्थना की है कि ईश्वरको इस कामसे अलग पड़ा रहने दीजिए।

" लेकिन मैं कहता हूँ कि इस प्रकृति-शक्तिके लिए ' प्रकृति ' काफी है। अधिक विचारके लिए आप चाहें, तो दूसरा नाम रख सकते हैं; लेकिन मैं अपने वश चलते राजा और ईश्वर शब्दोंसे संसारके किसी भी कोषको कलंकित देखना नहीं चाहता। ईश्वरकी कल्पना, राजाकी कल्पना, गुरुओं और महंतोंकी कल्पनाका प्रधान कारण है। इस लिए संसारकी बुराइयोंपर कुठाराघात करनेके लिए ईश्वरकी जड़का काटना सबसे पहले ज़रूरी जान पड़ता है। आशा है, हमारे नवयुवक इस बातपर गहरी और धीरता-वीरतापूर्ण दृष्टि डालकर शीघ्र ही ईश्वरको निकालनेका यत्न करेंगे। हमने जो कुछ ऊपर लिखा है, उससे प्रकट है कि मनुष्योंका स्वातंत्र्य, साम्य और बंधुत्व विनष्ट करनेमें धनपात्रों, पूँजीपतियों, जबरदस्तों, राजकर्मचारियों आदि क़ाबूयाफ्ता लोगोंका जितना हाथ है, उतना ही धर्मका भी है। धर्म अत्याचारियोंको सहायता देता है, ग़रीबों तथा दुखियोंको और अधिक ग़रीब और दुखी बनाता है। किसी समय योरपमें धर्मके नामपर ऐसे अत्याचार हुए हैं कि उन्हें देखकर शैतान, जिसे धर्मके माननेवालोंने इतना बुरा चित्रित किया है कि यदि वह सचमुच होता, तो लज्जासे सर झुका लेता। योरपका धर्मइतिहास (History of the Church) इसका साक्षी है। ' इनक्वीजिशन ' के क़ानूनने क्या कुछ अत्याचार नहीं किया? यह क़ानून पुरोहितराज पोपकी तृष्णा पूर्तिके लिए, धर्मविरोधीकी खोज करके प्रताड़ित करनेके निमित्त बनाया गया था। बेचारे ' मूर ' जैसे

सज्जनोंकी हत्याका दायित्व धर्म या ईश्वरके ही सिर है। ग्लेंकोके हत्या-काण्डमें भी पापिष्ठ ईश्वर और धर्मका ही हाथ था। धर्मान्धता-के नाशके साथ ही साथ पाश्चात्य देशोंके अभ्युदयका इतिहास आरंभ होता है, और धर्म या ईश्वरके पतनसे ही सोवियट-सरकार-के जन्मका सूत्रपात रूससे हुआ। इतनी ऐतिहासिक घटनाओंके होनेपर भी जो धर्मके नशेके मतवाले हैं, उन्हें बुद्धिमान् समझें या क्या, यह हमारी समझमें नहीं आता।

"ईश्वरके पूजनेवाले, दासवृत्तिका समर्थन करनेवाले कहते हैं कि यदि धार्मिक बुद्धिवालोंको देशका या और किसी संस्था आदिका प्रबंध सौंपा जाय, तो वर्तमान समाज भी बुरा नहीं है। कानून बुरा नहीं होता, वर्तनेवाले ही बुरे होते हैं। ईश्वर बुरा नहीं है, उसकी आज्ञाको न माननेवाले ही बुरे हैं। राजा अच्छा भी होता है, बुरा भी। बुरा राजा बुरा है। बुराई, बुराई है, न कि राजाका पद ही बुरा है। यह हमारे भोलेभाले भाइयोंकी नादानी है। मैं कहता हूँ कि कानून क्यों हो? न कानून होगा, न कोई उसे बुरा वर्तेगा; न खुदा होगा न उसके नामपर हज़ारों लाखों टन कागज़ रद्दी किया जायगा। मनुष्य यदि सोच-समझकर अपने समाजका संगठन करे, तो वह ईश्वर, राजा और कानूनके बिना भी बहुत आनंदके साथ रह सकता है। खासकर खुदा-जैसी पहेली तो नितान्त ही अनावश्यक और व्यर्थ है। मैंने गत २० वर्षोंसे खुदाकी परवा नहीं की। इससे मेरा कुछ भी हर्ज नहीं हुआ, उल्टे काम बहुत हुआ है। मैं पहलेसे अधिक संयमी, मनुष्यभक्त और समाज-सेवाका प्रेमी बन गया हूँ। क्योंकि मैं अपने

कामोंको प्रधानता देता हूँ। हिन्दू-सभाके सभापतिकी तरह मैं यह नहीं कहता कि "ईश्वर हमें शक्तिसे भर दे, हमें हिम्मत दे, और हे गवर्नमेंट, हमारी रक्षा कर। हम तुझे चेतावनी देते हैं कि जो तूने हमारी रक्षा न की, तो हम रोदेंगे और तेरे परदादा ईश्वरके सामने जाकर हाय हाय मचावेंगे।" मैं कहता हूँ कि "मनुष्य बलसे संपूर्ण है, वह उसीसे काम ले। भीख माँगना, प्रार्थना करना, हमें नीच और कायर बनाता है। जो ज्यादह नमाज़ पढ़ी जायगी, तो हिन्दू भी चोरी-डकैती, लड़कों औरतोंका चुराना आदि नीचता सीख लेंगे। ईश्वर मूर्खोंके लिए अंधोंका घर है।"

इन विचारोंकी आलोचनामें हमें कुछ अधिक कहना नहीं है। इनकी उत्पत्ति समाजकी विषम परिस्थितिमें उसकी दुरवस्थाको दूर करनेके लिए किसी व्यथित और सहृदय मस्तिष्कसे हुई है और अपने उद्देशकी सिद्धिमें कुछ सहायता भी पहुँचाई है, परन्तु फिर भी वह विचार सच्चाईसे बहुत दूर हैं। उनपर ईश्वर-विश्वासके अन्धकारमय पहलूकी ही छाया दिखाई देती है। जिन हजारों और लाखों नर-नारियोंके हृदयको अपने उज्ज्वल आलोकसे आलोकित कर ईश्वर-विश्वासने अपरिमित सुख और शान्तिसे भर दिया है, उनकी ओर विचारकोंने दृष्टिपात भी नहीं किया है। भारतीय इतिहासके स्वर्ण युगमें और आजके इस निकृष्टतम युगमें भी सहस्रों हृदयोंकी शान्ति और सामाजिक व्यवस्थाको स्थिर रखना ईश्वर-विश्वासकी ही नींवपर हुआ है। हम अपने सहयोगी बन्धुओंके इस विचारसे पूर्णतया सहमत हैं कि इस विश्वासके कारण समाजमें बहुतसी बुराइयोंको जन्म मिला और धर्मध्वजियोंने उससे अनुचित लाभ

उठाया, परन्तु फिर भी दार्शनिक विमर्शने जिस सत्ताकी आवश्यकता स्वीकार की है, उसे किन्हीं दुर्बल मस्तिष्कोंके दुरुपयोगके कारण या समाजमें क्लेश फैलनेकी सम्भावनासे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'मैं कहता हूँ, कानून क्यों हो? न कानून होगा, न कोई उसे बुरा बर्तेगा, न खुदा होगा न उसके नामपर हजारों लाखों टन कागज रद्दी किया जायगा।' यह लेखककी युक्ति हमारी समझमें नहीं आती। कानूनका दुरुपयोग हो सकता है, इस सम्भावनासे, उससे होनेवाले अमित लाभकी उपेक्षा कर उसे मिटा डालनेका उद्योग करना बुद्धिमत्ताका कार्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य-समाज होगा तो नाना प्रकारके झंझट और क्लेश हो सकते हैं, या मनुष्य-शरीर रहेगा तो नाना प्रकारके रोग और दुःखोंकी सम्भावना है, इस डरसे मानव-समाजको या नवजातको मिटा डालनेका समर्थन करना मूर्खताकी श्रेणीमें गिना जायगा। केवल दुरुपयोग या अपने मस्तिष्ककी दुर्बलताओंके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखोंके डरसे ईश्वर जैसी उपयोगी सुखद और दार्शनिक सत्ताको भुला देनेकी सलाह उचित नहीं कही जा सकती—

'न हि मृगाः सन्तीति यवाः नोप्यन्ते।'

यों अनिष्टकी सम्भावना संसारकी हरएक व्यवस्थामें रहती है। संसारकी कोई व्यवस्था, कोई विचार, कोई कार्य, ऐसा नहीं जिसका दुरुपयोग न हो सकता हो। फिर केवल उस दुरुपयोगके डरसे ऐसी कायरतासे भागा जाय, तो समाजका कार्य एक दिन भी नहीं चल सकता।

'शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले'

मनुष्यका खान-पान, रहन-सहन कुछ भी दुःखद परिणामकी सम्भावनासे खाली नहीं है। इस प्रकारकी सम्भावनाओंसे भयभीत होकर सचाईको पीठ दिखाना कायरता है। उसका समर्थन कोई भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं कर सकेगा।

संक्षेपमें हम यदि इस सिद्धान्तका विश्लेषण करना चाहें, तो कह सकते हैं कि इसका जन्म समाजकी दुरवस्थासे हुआ है, इसलिए इसमें सहृदयताकी भावना अधिक है, दार्शनिक नहीं। इसने विवादास्पद विषयके केवल एक—अन्धकारमय—अंशका अवलोकन किया है, उसके उज्ज्वल पहलूको छुआ भी नहीं। इसने रोगसे पीड़ित होकर रोगके आधार शरीरको ही मिटा डालनेकी सलाह दी है, रोगको दूर कर शरीरको स्वस्थ करनेकी नहीं। इसमें भीरुताकी झलक है, वीरताकी नहीं। ईश्वर-विश्वास दार्शनिक विमर्शसे समर्थित सत्य है, सहृदयता या इसी प्रकारकी कोई भावना उसका बहिष्कार नहीं कर सकती।

अद्वैतवाद

भारतवर्षके दार्शनिक क्षेत्रमें इस प्रपंचकी—इस विश्वकी—जितनी व्याख्याएँ की गई हैं, उनमें अद्वैतवादका स्थान बहुत ऊँचा है। श्रीशंकरस्वामी इस सिद्धान्तके प्रधान आचार्य और प्रवर्तक हैं। जिस समय श्रीशंकरस्वामीका जन्म हुआ, उस समय भारतवर्षके धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्रोंमें बौद्ध-विचारोंका प्रभाव था। वेद, ईश्वर, कर्मकाण्ड और इसी प्रकारके अन्य पदार्थोंका पूर्ण बहिष्कार हो चुका था। शंकरस्वामीके कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेके पहिले श्रीकुमारिलभट्टने यद्यपि वेदोंके पुनरुद्धारकी चेष्टा की और कर्मकाण्डका योग्यतापूर्ण समर्थन किया, परन्तु उनका कार्य-काल बहुत संक्षिप्त रहा, इस

लिए उनके कार्यका कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव सामाजिक अवस्थापर नहीं पड़ सका। उनके सम्बन्धमें हम केवल यह कह सकते हैं कि वेद और कर्मकाण्डका दार्शनिक दृष्टिसे समर्थन करनेका मार्ग ही उन्होंने सुझाया है। वह भी कुछ गिने-चुने लोगों तक ही सीमित रहा। सर्वसाधारणके मस्तिष्क या उनके क्रियात्मक जीवनमें उनके विचारोंने कोई क्रान्ति पैदा नहीं की। इस लिए आज भी श्रीकुमारिलभट्ट दार्शनिक आचार्य ही गिने जाते हैं, समाज-सुधारक नहीं। शंकरस्वामीके कार्यारम्भके समय भी भारतीय समाज वैसा ही नास्तिक बना हुआ था। उन्हें जड़वादी नास्तिक बौद्धोंके विरोधमें सारी विचारशक्तिका उपयोग करना पड़ा है। बौद्धोंका विचार था कि संसारमें जो कुछ है जड़ प्रकृति ही है, उसके अतिरिक्त किसी चेतन ईश्वर, ब्रह्म या आत्माकी न सत्ता ही है और न आवश्यकता ही। श्रीशंकरस्वामी, जब इस जड़वादी बौद्ध-समाजके सामने मोर्चा लेने खड़े हुए, तो उसका तुर्की-ब-तुर्की खण्डन ही उनका ध्येय और आवश्यक कर्तव्य था। बौद्धोंने प्रपंचकी व्याख्या यदि एकान्त जड़ प्रकृतिके सहारे कर चेतन आत्माकी सत्ताको बिलकुल उड़ा देनेका प्रयास किया, तो श्रीशंकरस्वामीने उनके बिलकुल विपरीत अपनी दार्शनिक तर्कनाओंकी व्यूह-रचना की। अर्थात् जड़ प्रकृतिकी सत्ता मिटाकर एकान्त चेतन आत्मा या ब्रह्मके सहारे विश्वकी व्याख्या करनेमें ही उन्होंने अपनी धुआँधार तर्कनाओं और उपजाऊ मस्तिष्ककी सारी शक्तिको केन्द्रित कर दिया है। बौद्ध दार्शनिकोंके जडवादका तुर्की-ब-तुर्की जवाब तो यही था और इसीके लिए श्रीशंकरस्वामीके चेतनाद्वैतकी सृष्टि हुई है। इस अद्वैतवादने परिस्थितिका मुकाबिला सफलताके साथ किया है। नास्तिकवादके प्रवाहमें बहने-

वाली भारतीय मनोवृत्तिको अद्वैतवादकी ओरसे हटाकर चेतनवादकी ओर आकृष्ट किया, इसके लिए हम उसकी सराहना करते हैं; परन्तु फिर भी हम उसे अन्तिम तथ्य नहीं समझते और न यही कह सकते हैं कि उसने भारतीय समाजका वास्तविक कल्याण किया है।

श्रीशङ्करस्वामीकी प्रतिपादनशैलीका विश्लेषण यदि किया जावे, तो हम उसे दो भागोंमें विभक्त पायेंगे। एक ओर अद्वैतवादके समर्थनेमं उनकी निजी दार्शनिक युक्तियाँ हैं और दूसरी ओर उनके उपजीव्य–आधाररूप–श्रुतिके प्रमाण हैं। युक्ति और श्रुतिके सम्मिलित आधारपर ही अद्वैतवादका विशाल भवन खड़ा हुआ है। इस सम्मिश्रणमें भी आचार्यकी अपनी युक्तियाँ थोड़ी हैं, मुख्य अंश श्रुतिके प्रमाणोंका ही है। इन दोनों भागोंका पृथक् पृथक् विश्लेषण विषयको बहुत कुछ स्पष्ट कर सकेगा।

युक्तिवादकी दृष्टिसे शङ्करस्वामीका कहना है कि 'यह सब जगत् मिथ्या है, उसी प्रकार जैसे स्वप्नका जगत् मिथ्या होता है, क्योंकि दृश्यत्व दोनों जगह समान है, अर्थात् दोनों वस्तुएँ दिखाई देती हैं।' यह एक आचार्यकी युक्ति है और आचार्य भी कौन? श्रीशङ्करस्वामी, जिनके आगे 'जगद्गुरु' की पदवी संयुक्त है, जिनके अद्वैतवादकी प्रशंसामें यहाँ तक कहा गया है कि—

तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।

जिस प्रकार सिंहकी अनुपस्थितिमें जंगलमें शृगाल चिल्लाते फिरते हैं, उसी प्रकार जब तक 'वेदान्त-केसरी' मैदानमें नहीं उतरता, तब तक अन्य शास्त्र भले ही गर्ज लें, परन्तु उसके आते ही फिर उनका पता भी न चलेगा। ऐसे धुरन्धर दार्शनिक मस्तिष्कसे इतनी थोथी युक्तिकी उपज कैसे हुई, यही आश्चर्यकी बात है। हमारा विश्वास है

कि श्रीशङ्कराचार्यको छोड़कर अन्य किसीके मुँहसे निकलकर यह युक्ति आलोचक समाजके सामने आती, तो अब तक न जाने कबकी छीछालेदर हो गई होती। परन्तु शङ्कराचार्यने तात्कालिक परिस्थितिमें भारतवर्षकी बड़ी सेवा की है। लोगोंको उनके ऊपर आस्था है। इस आस्थाके कारण ही अब तक उसकी ओर उँगली नहीं उठी है। परन्तु वस्तुतः यदि देखा जाय तो उनकी वह युक्ति बिलकुल थोथी, असंगत और सारहीन है। जो चीज़ दिखाई देती है, वह मिथ्या है, यह युक्ति तो हमारी समझमें नहीं आती। दिखाई देना वस्तुकी सत्ताका सबूत तो होता है, लोक और शास्त्रमें उसका उपयोग भी होता है, परन्तु उसके द्वारा वस्तुके अभावकी प्रतीति कहीं भी नहीं होती। यदि शंकराचार्यकी इस युक्तिका आश्रय सब लेने लगें, तो संसारकी अवस्था बड़ी दयनीय हो उठे। स्वयं शङ्कराचार्य, उनके ग्रन्थ और उनके सिद्धान्त सब मिथ्या हो जावें। इस युक्तिका प्रभाव समाजकी व्यवस्थापर क्या पड़ता है, इसके दो एक उदाहरण देखिए—

रामचन्द्र भोजन करने बैठा है, सामने भोजन परोसकर रख दिया गया; परन्तु उसके दिमागमें शंकर स्वामीकी यह विचित्र युक्ति घर किये बैठी है। वह कहता है—यह मिथ्या है, क्योंकि मैं देख रहा हूँ। परिणाम ? बुभुक्षा, पिपासा, दुर्बलता और अन्तमें..............

सामने कुआँ खुदा हुआ है, शंकराचार्यका ऐसा ही कोई शिष्य उसकी ओर चला जा रहा है। एक भले आदमीने उसे टोका—अरे भाई, दिखता नहीं, सामने कुआँ है। शिष्यने कहा—कहाँ ? वह तो मिथ्या—डबल मिथ्या—है, क्योंकि मुझे और तुझे दोनोंको दीख रहा है। आगे कदम बढ़ा और गए। शंकराचार्यकी विचित्र युक्तिने संसारके रत्न और समाजके योग्य सदस्यको सदाके लिए बिदा कर दिया।

सामनेके मकानमें आग लगी हुई है, लपटें ऐसी धाँय धाँय कर रही हैं कि उनकी आवाज़से भी डर लगता है। एक सुयोग्य वैज्ञानिक—जो अपने आविष्कारोंसे समाजको अमित लाभ पहुँचा रहा है—पास ही खड़ा है। इतनेमें शंकरस्वामीके शिष्यने आकर कहा–चलो चलो, आगे बढ़ो। वैज्ञानिकने उत्तर दिया—आग–वह देखो कैसी धधक रही है, दीखती नहीं? कहाँ? दीख रही है, इसीलिए तो हम कहते हैं कि वह मिथ्या है, यह कहते हुए शिष्यने उस वैज्ञानिकको उधर ढकेल दिया और आह! वह देखो समाजका सर्वनाश कर दिया।

वह एक सुन्दर सुव्यवस्थित और समृद्ध साम्राज्य था। वहाँकी प्रजा स्वतंत्र राष्ट्रका सुखभोग करती थी, दूधों नहाती और पूतों फलती थी। एक वार उसके दुर्वल शत्रुने साहस कर राज्यके ऊपर आक्रमण किया, राजाने मोर्चा लेनेकी ठानी; परन्तु वहाँ तो शंकर स्वामीके शिष्य पहुँचे हुए थे। बोले—नहीं, यह तो मिथ्या—सरासर मिथ्या—है, क्योंकि तुम इतने लोग उसे देख रहे हो। क्यों? क्या तुम आचार्यके उस उपदेशको भूल गये—

जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यं, दृश्यमानत्वात् स्वप्नदृश्यभाववत्।

जाग्रत अवस्थामें दिखाई देनेवाली सब वस्तुएँ मिथ्या होती हैं, क्योंकि वह दिखाई देती हैं। स्वप्नकी वस्तुएँ भी तो दिखाई देती ह; फिर जब वह और यह दोनों दृश्य हैं–दिखाई देती हैं, तो उन दोनोंमें अन्तर ही क्या रहा? स्वप्नकी बातोंको तो तुम भी मिथ्या मानते ही हो, फिर यह जो फौज-फर्रा तुम्हें दिखाई देता है, यह भी मिथ्या है।

राजाने प्रतिकार न किया। यवन शत्रुओंकी सैन्य अप्रतिहत गतिसे आई, सारे देशको पादाक्रान्त करती हुई इधरसे उधर निकल गई। एक हरा-भरा स्वतंत्र राष्ट्र पीढ़ी दर पीढ़ीके लिए परतंत्रताके

बन्धनमें जकड़ गया। देखें, उस अभागे देशका उद्धार कितनी सदि-येंमें होता है।

अपने इस विचित्र सिद्धान्तके पोषणके लिए जो दृष्टान्त शंकर-स्वामीने खोजकर निकाला है, वह और भी हीन श्रेणीका है। स्वप्नमें दिखाई देनेवाली वस्तुओंका मिथ्यात्व इस लिए नहीं है कि वह दिखाई देती हैं। बल्कि वह स्वप्नमें दिखाई देती हैं, इस लिए वह मिथ्या हैं। पीलिया रोगमें रोगीको सब वस्तुएँ पीली दिखाई देती हैं। उसके भीतर दृश्यत्व-साधर्म्य लेकर विश्वमात्रको पीला ठहरा देना क्या कहा जायगा? बुद्धिमत्ता या........? इसी प्रकार हमारी आखों-पर हरा चश्मा लगा है। विश्वमात्र हमें हरा दिखाई देता है, परन्तु उसके दृश्यत्व-साधर्म्यके कारण समग्र संसारको हरा करार नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार शंकरस्वामीका दृष्टान्त भी वस्तुतः उनके सिद्धान्तका समर्थन करनेमें सर्वथा असमर्थ है।

इसी प्रकार शंकरस्वामीका एक और सिद्धान्त है कि—

'अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च पश्वा-दिभिश्चाविशेषात्।

अर्थात् मनुष्य और पशुओंकी चेष्टाएँ परस्पर मिलती हैं—

'आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

खाना और पीना, सोना और उठना, भय और मैथुन जिस प्रकार पशु करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी करते हैं। पशु विचारशून्य और विवेकहीन होते हैं। उनके व्यवहार अविद्यावद् विषयवाले होते हैं। यह भी शङ्करस्वामीकी एक हीन युक्ति है। इसके आधार-पर शङ्करस्वामी समस्त प्रमाणोंको अविद्यावद् विषय ठहराते हैं। फिर हम उनकी बातोंको—उनके सिद्धान्तको—कैसे मान सकेंगे? जिन

प्रमाणोंको स्वयं अविद्यावद् विषयवाला कह रहे हैं, उन्हींका आश्रय लेते हैं, अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिए। यह उनके सैद्धान्तिक और क्रियात्मक जीवनका वैषम्य है।

इस प्रकारके हेत्वाभासों और कल्पित स्वयंसिद्धियोंसे शाङ्करभाष्य भरा पड़ा है। हमें यही आश्चर्य है कि शंकरस्वामीके मस्तिष्कसे ऐसी बातें क्यों निकलीं। शंकरस्वामीके इस निजी युक्तिवाले विभागकी आलोचना ही बहुत लम्बा चौड़ा विषय है। और अद्वैतवाद? अद्वैतवादकी आलोचनाके लिए तो एक स्वतंत्र पुस्तककी आवश्यकता है। उसकी विशद आलोचना करनेका इस समय न अवसर ही है, न सामग्री ही और न पुस्तकका अपेक्षित क्षीण कलेवर उसकी आज्ञा ही देता है। इसलिए उसे हम यहीं छोड़ देते हैं। परन्तु हाँ, एक बात और है, वह है अद्वैतवादके समर्थनमें प्रस्तुत की जानेवाली श्रुतियाँ। हम कह चुके हैं कि शंकरस्वामीने अद्वैत-सिद्धान्तके प्रतिपादनमें युक्तियोंकी अपेक्षा शास्त्रका—श्रुतिका—उस शास्त्रका जिसे वह 'अविद्यावद् विषय' सिद्ध कर चुके हैं—आश्रय ही अधिक लिया है। इस सम्बन्धमें विचार करते समय हमें एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए और वह यह कि शांकर-भाष्यमें या शांकर-साहित्यमें प्रयुक्त हुआ श्रुतिशब्द वेदका वाचक नहीं है। बल्कि उसका प्रयोग बहुधा उपनिषद्-ग्रन्थोंके लिए हुआ है। जहाँ कहीं उन्होंने श्रुतिके नामसे वाक्य उद्धृत किया है, तो वह प्रायः उपनिषदोंमेंसे ही किसीका है।

शांकर अद्वैतकी एक व्याख्या—सम्भावित व्याख्या—हम पहले कर चुके हैं कि वह जड़ाद्वैतका तुर्की-ब-तुर्की जवाब है। यदि बौद्ध दार्शनिकोंके जड़ाद्वैतका दबदबा शंकराचार्यके समयमें न होता, तो इस अद्वैतवादकी उत्पत्ति भी बहुत कुछ संदिग्ध रहती। दूसरे रूपमें

हम उसे भक्त हृदयकी चरम भावनाओंका परिणाम कह सकते हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, शंकराचार्यने अपने अद्वैतवादका प्रतिपादन मुख्यतः उपनिषद् ग्रन्थोंके आधारपर किया है, और प्रायः उन्हींको श्रुति कहकर उद्धृत किया है। उपनिषद् शब्दका अर्थ है भगवान्‌के समीपस्थ होना। जिन ऋषियों या ऋषिपुत्रोंका उनमें उल्लेख है, वह साधारण श्रेणीसे ऊपरके मनुष्य थे। उनके हृदयमें भगवान्‌का वास था। वह प्रथम श्रेणीके सिद्ध उपासक और भगवान्‌के भक्त थे। ध्याता और ध्येय, प्रेमी और प्रेमपात्रके भेदको भूल जाना, यही तो भक्तिकी चरम सीमा है। प्रेमी और भक्त हृदय अपनी भावुकताके प्रवाहमें द्वित्व और नानात्वको बहा देता है। उसे हर जगह जड़ और चेतनमें अपने उसी ध्येयकी प्रतिकृति प्रतीत होती है। उसी भूलमें —उसी अद्वैत भावनामें—वह परमात्माका अनुभव करता है। अखिल विश्वको प्रभुमय देखनेवाला भक्त हृदय उस भक्तिके आवेशमें जिस सुखका अनुभव करता है, वह इस लोककी नहीं अपि तु स्वर्गीय वस्तु है। वही सुख—वही आनन्द—वही अद्वैत तो ऐश्वर्य है—स्वर्ग है—अपवर्ग है। उपनिषदोंका प्रत्येक ऋषि ध्यानावस्थित होकर उसी परमानन्दमें लीन हो जाता था और उस समय जिस सुखका अनुभव करता था, उन्हीं सब बातोंका निरूपण तो उपनिषदोंने किया है। फिर क्या हम यह नहीं कह सकते कि उपनिषदें सहस्रों भक्तहृदयोंकी सुखमय भावनाओंका सुन्दर चित्रण है? उसमें जो कुछ है, वह भक्तिका परिणाम है। हम यह मानते हैं कि भक्त और प्रेमी अपने ध्येयमें उस द्वैतके परमसुखका अनुभव अवश्य करता है; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह अद्वैत वास्तविक तथ्य है। अद्वैत सुख है—सन्तोष है—शान्ति है; परन्तु वह वास्तविक तथ्य भी है, यह नहीं कहा जा सकता।

समाप्त

संशोधन

पर्याप्त प्रयत्न करनेपर भी निम्न अशुद्धियाँ पुस्तकमें रह गई हैं। पढ़नेके पहले इनका संशोधन कर लेनेकी कृपा कीजिए—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	१४	docrine	doctrine
११	५	Ontology	Epistemology
११	८	Epistemyolog	Ontology
१९	२०	विल	प्रवल
२०	८	भाव	भारत
२०	१६	परिणाम	परिमाण
३०	१९	संस्करण	संसरण
५३	१	चेतन	अचेतन
५७	१९	किसी	इसी
६३	८	सरल	सात
६८	१५	इस	उस
६८	१६	करते	चाहते
७६	२१	सहानुभूति	साधारण अनुभूति
७६	२१	मानवमें	मानव-जीवनमें
८४	६	परिणाम	परिमाण
८५	११	पुनर्निवर्त्स्यति,	न पुनर्निवर्त्स्यति
८८	१४	पकजां	यकजां
९३	५	पदार्थाः	परार्थाः
९८	२४	विशता	पिवता
९८	२४	दुर्वशः	दुर्यशः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०१	७	महदाख्य:	महदाद्या:
१०१	८	षोडशमस्तु	षोडशकस्तु
११५	१२	मौल्कि	भौतिक
११७	२१	क्रान्ति	भ्रान्ति
१२०	२०	विषय	नियम
१३१	३	एवामूलं	एव मूलं
१३४	५	कि	।
१३७	१७	हुआ	रहा
१४१	२	घ्राणन	घ्राणज
१४२	६	श्रोता	श्रोत्र
१५८	२०,२१	प्रापण	प्रायण
१६६	१०	आध्यात्मिक	माध्यमिक
१६८	३	आत्मा नित्यत्वे	आत्मनित्यत्वे,
१७०	२	पूर्णानुभूत	पूर्वानुभूत
१८३	२०	प्रभाव	प्रमुख
१९२	२०	वुरा	कुछ

दो दार्शनिक ग्रन्थ

ज्ञान और कर्म

बंगालके सुप्रसिद्ध विद्वान्, स्वर्गीय गुरुदास वन्द्योपाध्याय, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० एल०, के अमूल्य ग्रन्थका अनुवाद । गुरुदास बाबू पूर्वीय और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानके पारगामी पण्डित थे । वे अपने इस ग्रन्थमें जीवन भरके अध्ययन और मननका सार संग्रह कर गये हैं । देशकी किसी भी भाषामें अभीतक इसके जोड़का ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ । मनुष्यके अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी भी बातें हैं, उसके आत्मिक, मानसिक और शारीरिक सुखोंको बढ़ानेवाले जितने भी साधन हैं और सन्तान, परिवार, जाति, सम्प्रदाय, देश, राज्य आदिके प्रति उसके जितने भी कर्तव्य हैं, इस ग्रन्थमें उन सभीपर प्रकाश डाला गया है । गहरेसे गहरे दार्शनिक और तात्त्विक विचारोंसे लेकर साधारणसे साधारण सगाई-विवाह, खान-पान, चाल-चलन, और वेष-भूषा-सम्बन्धी बातोंकी भी इसमें चर्चा की गई है । सच तो यह है कि ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसपर इसमें कहीं न कहीं, मुख्य या गौणरूपमें विचार न किया गया हो । ग्रन्थकी रचनाप्रणाली बहुत ही प्रौढ और शृंखलाबद्ध है । अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है । एक प्रसिद्ध हिन्दी विद्वानकी राय है कि " इस एक अनुवाद-ग्रन्थपर सैकड़ों मौलिक ग्रन्थ निछावर किये जा सकते हैं । हिन्दीका बड़ा सौभाग्य है कि उसमें ऐसे अपूर्व ग्रन्थका अनुवाद हो गया । मू० ३), सजिल्दका ३॥)

नीति-विज्ञान

आचारशास्त्रपर नई पद्धतिसे लिखा हुआ अभी तक कोई ग्रन्थ हिन्दीमें नहीं था । यह इस विषयका सबसे पहला ग्रन्थ है और बाबू गोवर्धनलाल एम० ए०, बी० एल० के अनेक वर्षोंके स्वतन्त्र अध्ययन तथा मननका फल है । इसके पहले नौ अध्यायोंमें बतलाया गया है कि नीति (सदाचार) किसे कहते हैं, नीतिकी उत्पत्ति और उसका विस्तार किस तरह

हुआ और नीतिविषयक विचारोंमें दिनपर दिन कितना अन्तर पड़ता गया और दसवेंसे लेकर सोलहवें अध्यायतक ईसाई, यहूदी, इस्लामी आदि धर्मोंकी कल्पनायें कहाँ तक नीतिशास्त्रसंगत हैं, इसका विवेचन करके उन लोगोंकी खूब खबर ली गई है जो अपने ही धर्मको सर्वश्रेष्ठ समझकर दूसरोंको नरकका पात्र समझते हैं। अन्तमें स्पष्ट किया है कि प्रेम ही परमेश्वर, सदाचार ही धर्म और मनुष्य-सेवा ही मनुष्यका श्रेष्ठ कर्तव्य है। वास्तवमें इसमें आचार, आचरण या चालचलनकी वैज्ञानिक आलोचना की गई है और असली सदाचारका स्वरूप बतलाया है। दर असलमें सदाचार मज़हबों और धर्मोंसे एक जुदी ही चीज है। मज़हबी आदमियोंने संसारमें जो जो अत्याचार किये हैं और खूनकी नदियाँ बहाई हैं, उनका वर्णन पढ़कर रोमांच हो आता है। ईसाई धर्मके तो ऐसे ऐसे अत्याचारोंका इसमें वर्णन है कि जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। जुदे जुदे देशोंके सभ्य और असभ्य जातियोंके ब्याह-शादीसम्बन्धी रीति-रवाजोंका प्रकरण बड़ा ही मजेदार है। वैज्ञानिक ग्रन्थ होनेपर भी इसके पढ़नेमें खूब जी लगता है। इसका प्रत्येक पृष्ठ कुतूहलवर्धक है। मराठी केसरी, सरस्वती, माधुरी, प्रभा आदि प्रसिद्ध पत्रोंने इस ग्रन्थकी जी खोलकर प्रशंसा की है। गुजरातीके प्रसिद्ध मासिक पत्र युगधर्मने इसकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा करके लिखा है कि इसका शीघ्र ही गुजराती अनुवाद होना चाहिए।

प्रभाके सम्पादक लिखते हैं—"हम इसे हिन्दी भाषाका सौभाग्य समझते हैं कि गोवर्द्धनलालजीके सदृश लेखकोंकी कृपासे हिन्दीमें अब इस विषयकी ऐसी सुन्दर पुस्तक प्रकाशित हो रही है।...हम बिना संकोचके यह कह सकते हैं कि लेखकने इस पुस्तकके लिखनेमें पूर्ण विचार, मौलिकता और आत्मचिन्तनसे काम लिया है।...सदाचार-शास्त्रके विद्यार्थियों और सद्‌गृहस्थोंसे हमारा अनुरोध है कि वे एक वार इस ग्रन्थको अवश्य पढ़ें।...इस पुस्तकको लिखकर उन्होंने हिन्दी संसारमें विचार-स्वातंत्र्यका जो स्रोत बहाया है, उसके लिए प्रत्येक हिन्दी पाठक कृतज्ञ होगा।" मूल्य २।), राजसंस्करण ३)